मौतों की फसल

बिहार के हत्याकांड और न्याय का सवाल

पीपल्स यूनियन फॉर डैमोक्रेटिक राइट्स, दिल्ली
अगस्त 2016

fo'k; lwfp

प्रस्तावना	3
1. बिहार के जनसंहारों की पृष्ठभूमि	4
2. बारा का मामला	11
मौत की सज़ा पाने वालों के बयान	17
3. न्याय का अलग अलग पैमाना बथानी टोला, लक्ष्मणपुर बाथे, नागरी बाज़ार और मियांपुर जनसंहारों में अदालतों के फैसले	20
4. फांसी की सज़ा और आतंकवाद का अपराध	32
आवाजाही में खो गई – दया याचिका की कहानी	34
5. निष्कर्ष	35
ज़िंदगी का भार : *''उनकी बाकी की स्वाभाविक ज़िंदगी तक'*	37

अगर कोई सच में यह जानना चाहता है कि किसी देश में न्याय किस तरह दिलाया जाता है, तो वह पुलिस वालों, वकीलों, न्यायाधीशों या सुरक्षित और संरक्षित मध्यम वर्ग से इस बारे में नहीं पूछता। वह जाता है असुरक्षित लोगों के पास – वे जिन्हें कानून के संरक्षण की सबसे ज़्यादा ज़रूरत होती है! ... . और वह उनकी आपबीती सुनता है ... वह सबसे त्रस्त लोगों से पूछता है कि न्याय के दायरे में वे कहाँ खड़े हैं। और फिर आपको इस बारे में यह पता नहीं चलता कि इस देश में न्याय है या नहीं, पर यह कि इस देश को न्याय या उसकी अवधारणा से कोई प्यार है या नहीं। किसी भी स्थिति में यह तो पक्का है कि सत्ता के साथ अज्ञानता का होना न्याय का सबसे क्रूर शत्रू है।

– जेम्स बॉल्डविन

çLrkouk

यह रिपोर्ट ग्रामीण बिहार में 1980 और 1990 के दशकों में हुए हत्याकांडों के इतिहास से संबंधित है। एक तरफ प्रभावशाली जातियों जैसे भूमिहारों और अन्य सवर्ण जातियों द्वारा खुद को संगठित करके बनाई गई सेनाएं थीं और दूसरी तरफ गरीब ग्रामीण, मुख्यतः दलित और अन्य तथाकथित निचली जातियों के लोग थे, जो मार्कसिस्ट लेनिनिस्ट संगठनों की मदद से खुद को संगठित करने में लगे थे। दोनों पक्ष एक दूसरे से भिड़े हुए थे। सवर्णों की सेनाओं द्वारा जो हत्याकांड किए गए उनकी पूरी सूची कभी नहीं बनाई गई। पर सवर्ण जातियों की सेनाओं में से आखिरी सेना, रणवीर सेना अकेले ही 23 से ज़्यादा हत्याकांडों के लिए ज़िम्मेदार थी, जिनमें 256 से ज़्यादा तथाकथित निचली जातियों के लोगों ने अपनी जानें गवाईं।

उस समय के बिहार राज्य में पी.यू.डी.आर. ने आठ जाँच दल भेजे, जिन्होंने हत्याकांडों के कई मामलों की जाँच पड़ताल की। पी.यू.डी.आर. की कोशिश इन हत्याकांडों के कारणों, उनकी जड़ों को समझने, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से इनमें राजसत्ता की भागीदारी का विरोध करने और देश के स्थापित सुधारवादी और दंडात्मक कानूनों द्वारा इस हिंसा और प्रतिहिंसा को रोकने की मांग करने की थी।

यह रिपोर्ट ऐसे एक हत्याकांड में हुए आपराधिक मामले में न्यायालय के फैसले पर प्रकाश डालती है। 12 फरवरी 1992 को, माओइस्ट कम्युनिस्ट सैंटर (एम.सी.सी.) की हथियार बंद उपद्रवी भीड़ ने बिहार के गया जिले के बारा गाँव में सवर्णों के 35 ज़मींदारों की हत्या कर दी। मुकदमे में 6 आरोपियों को दोषी ठहराया गया जिसमे से 4 को फांसी की सज़ा सुनाई गई। मुकदमा टैररिस्ट एंड डिस्रपटिव एक्टिविटीज़ (प्रिवेंशन) ऐक्ट (टाडा) के तहत स्थापित डेसिगनेटिड कोर्ट (विशेष अदालत) में चला था। ध्यान रहे कि टाडा कानून, पोटा और आज के यू.ए.पी.ए. का पिछला अवतार था। संसद ने टाडा के अनियंत्रित दुरुपयोग के कारण (जिससे देश भर से एक लाख से ज़्यादा लोग जेलों में पहुँच गए थे) हुए जन विरोध के चलते इसे 1995 में आगे जारी नहीं रखा था। बारा का मुकदमा इसके भेदभावपूर्ण प्रावधानों से प्रभावित रहा। सर्वोच्च न्यायालय ने 4 आरोपियों की फांसी की सज़ा को बरकरार रखा, 2 को उम्र कैद में बदल दिया। इन चार लोगों ने अपनी दया याचिका जेल प्रशासन के माध्यम से राज्यपाल को भेजीं, जिसे राज्यपाल ने राष्ट्रपति को भेज दिया। इनके बारे में उसके बाद से कोई खबर नहीं है। फांसी की सज़ा पाए ये चार लोग करीब दो दशक जेलों में काट चुके हैं।

दूसरे हत्याकांडों के अनेकों मामलों, जिनमें ज़मींदारों की सेनाओं ने भूमिहीन दलितों को मारा था, का अंत अभियुक्तों के बरी किए जाने में हुआ। इसलिए इस रिपोर्ट में ऐसे हत्याकांडों के मामलों में पटना उच्च न्यायालय के हाल ही में आए चार फैसलों को भी समझने का प्रयास किया गया है जो बथानी टोला, लक्ष्मणपुर बाथे, नागरी और मिंयापुर गाँवों में हुए थे और जिनमें ज़मींदारों की रणवीर सेना द्वारा 122 लोगों की हत्याएं की गईं थीं। इन सभी मामलों में एक अभियुक्त को छोड़ कर सभी को बरी कर दिया गया था।

हथियारबंद उपद्रवी भीड़ द्वारा की गई हत्याओं के एक जैसे मामलों में एकदम विपरीत परिणाम कैसे निकले? इस रिपोर्ट में यह समझने की कोशिश की गई है कि तहकीकात, सबूत इकट्ठा करने और दर्ज़ करने, आरोप तय करने, गवाहों के बयानों को विश्वसनीय मानने और अंततः दोषी ठहराए जाने और सज़ा देने में अपराधियों की सामाजिक पृष्ठभूमि का क्या असर पड़ता है। अमीर, शक्तिशाली और प्रभावशाली वर्ग के हित में गरीबों के साथ भेदभाव, आज भी आपराधिक न्याय प्रणाली के हर कोने में घुसा हुआ है। फांसी की सज़ा इसे सबसे अधिक स्पष्टता से उजागर करती है।

1- fcgkj d ujlgkjk dh i"BHkfe

मध्य बिहार में उन्नीस सौ नब्बे के दशक में हुए नरसंहार आज फिर से खबरों में हैं। अगस्त 2015 में कोबरा पोस्ट नामक मीडिया संगठन द्वारा मध्य बिहार के ज़मींदारों की 'रणवीर सेना' नाम की खूंखार निजी सेना के छः नेताओं के साक्षात्कार प्रसारित किए गए। रणवीर सेना के ये छः पदाधिकारी कैमरे पर बिना किसी पछतावे के यह स्वीकारते हुए पकड़े गए कि नब्बे के दशक के आखरी सालों में प्रदेश में हुए जिन भयानक नरसंहारों ने देश को हिला दिया था, उन्हें अंजाम देने में इनका हाथ था। इन साक्षात्कारों में सेना के बबर्तापूर्ण कृत्यों का वर्णन है – चाहे वह गर्भवती महिलाओं के पेट और गर्भाश्य काटना हो या फिर नवजात बच्चों को मार डालना हो। साक्षात्कारों में इन लोगों को अपने इन कुकर्मों के प्रति किसी भी प्रकार का कोई पछतावा नहीं था।

रणवीर सेना का रिकॉर्ड काफ़ी भयानक है। सितम्बर 1994 में बनने के बाद के छः सालों में इसने करीब 300 लोगों, ज़्यादातर गरीब किसानों और कृषि मज़दूरों की हत्याएं कीं, जिनमें से अधिकतर दलित या पिछड़े वर्गों से थे। परन्तु रणवीर सेना असल में अस्सी और नब्बे के दशकों में मध्य बिहार के मैदानी इलाकों में उपद्रव फैलाने वाली अन्य कई एक जाति आधारित निजी सेनाओं की सबसे सशक्त उत्तराधिकारी सेना थी। गरीब किसानों द्वारा अपने अधिकारों की मांग उठाना शुरू कर देने से, उनके शरीरों और श्रम पर अपने एकछत्र अधिकार के हाथ से निकलते देख कर सामंती ज़मींदारों ने इन निजी सेनाओं का गठन किया था। ये सेनाएं स्थानीय पुलिस की मिलीभगत से मध्य बिहार के मैदानी इलाकों में अनियंत्रित रूप से हत्याएं, बलात्कार और आगज़नी करतीं थीं।

ये सेनाएं कहाँ से आई थीं? कैसे पैदा हुई थीं? इन सेनाओं के उद्गम को समझने के लिए हमें यह समझना होगा कि बिहार के गरीब लोग किन हालातों में रहते थे।

अधिकांश पैमानों पर बिहार भारत के सबसे गरीब और वंचित प्रदेशों में से एक है। इसकी प्रति व्यक्ति आय देश की औसत प्रति व्यक्ति आय की करीब एक तिहाई है और सभी मानव विकास सूचकों में इसे देश भर के प्रदेशों में सबसे नीचे या उसके आस पास होने की 'महानता' हासिल है। देश में गरीबी के आंकड़ों में तेज़ी से गिरावट आई है और इसलिए इन संख्याओं पर कई लोग सवालिया निशान भी लगा रहे हैं। परन्तु इन संभावित रूप से गलत गणनाओं के बावजूद बिहार में आधी आबादी गरीबी की सीमा रेखा से नीचे है (2009–10 में 53 प्रतिशत, जबकि देश में यह आंकड़ा 30 प्रतिशत है)। गरीबी के आकलन के और विश्वसनीय तरीके, जैसे कि बहुआयामी गरीबी सूचकांक दर्शाते हैं कि बिहार की लगभग 80 प्रतिशत आबादी गरीबी की सीमा रेखा के नीचे है जबकि भारत के लिए यह आंकड़ा 54 प्रतिशत है।

ग्रामीण बिहार में गरीबी की बुनियाद, बहुत बड़ी तादाद में लोगों के भूमिहीन होने और ज़मीन के गैर बराबर वितरण में निहित है। बहुत बड़ी संख्या ऐसे परिवारों की है जिनके पास अपनी झोपड़ी तक बनाने के लिए ज़मीन नहीं है। पूरे देश की तुलना में बिहार में ग्रामीणों के लिए घरों का सबसे अधिक अभाव है और यह अनुमानित अभाव दूसरे नम्बर के अभावग्रस्त प्रदेश की तुलना में दुगना है। नेशनल सैंपल सर्वे (एन.एस.एस.) के भूमिहीन आबादी के अनुमानित आंकड़ों के अनुसार बिहार में औसतन करीब 31 प्रतिशत परिवारों के पास घर बनाने की ज़मीन के अलावा कोई ज़मीन नहीं है। इसके अलावा करीब 7.6 प्रतिशत परिवारों के पास बिल्कुल भी ज़मीन नहीं है। साथ ही 42.5 प्रतिशत लोगों के पास एक एकड़ से भी कम ज़मीन है। अलग अलग क्षेत्रों में बहुत विभिन्नता है जो इन औसत आंकड़ों में छिप जाती है। बिहार लैंड रिफ़ार्मस कमीशन द्वारा हाल में 12 गाँवों में किए गए एक सर्वे में पाया गया कि 52 प्रतिशत परिवार भूमिहीन थे ('करैंट अग्ररिअन सिचुएशन इन बिहार' एशियन डवलपमेंट रिसर्च इंस्टीटयूट 2008)। नेशनल सैंपल सर्वे ऑफ़िस (एन. एस.एस.ओ.) की 2003 की रिपोर्ट के अनुसार 96.5 प्रतिशत भूस्वामियों – जो कि छोटे और हाशिए के किसान हैं – के पास ज़मीन के केवल 66 प्रतिशत की मिल्कियत थी। दूसरी ओर मंझले और बड़े किसान, जो कि भूस्वामी समुदाय के केवल 3–4 प्रतिशत थे, करीब 33 प्रतिशत कृषियोग्य ज़मीन के मालिक थे। कुछ दशक पहले बिहार के ग्रामीण इलाकों में बड़े ज़मींदारों का प्रभुत्व था। शहरीकरण और जातिगत सामाजिक स्थिति में (जनांकिकी) बदलावों ने बड़े ज़मींदारों के महत्व को कुछ हद कम कर दिया है परन्तु प्रदेश के कुछ हिस्सों में, खास कर उत्तरी बिहार में ये अभी भी मौजूद हैं। सरकारी आंकड़ों के अनुसार (एन.एस.एस.ओ. 2003), खेतिहर

परिवारों में से केवल 0.1 प्रतिशत बड़े ज़मींदारों का है परन्तु उनके पास 4.63 प्रतिशत ज़मीन है जो कि कुल मिला कर 8 लाख हैक्टेयर से ज़्यादा है (इकनोमिक एंड पोलिटिकल वीकली, 21 नवम्बर 2009)।

बिहार में सामाजिक–आर्थिक विकास के लिए भूमिसुधारों के महत्व को आज़ादी के बाद और शायद पहले से भी स्वीकारा गया है। बिहार में औपनिवेशिक ब्रिटिश प्रशासन के तहत 1793 में स्थाई बंदोबस्ती की व्यवस्था (परमानेंट सैटलमेंट) लागू हुई। इसने भूराजस्व को हमेशा के लिए तय कर दिया और बड़े ज़मींदारों के एक वर्ग को राजस्व इकट्ठा करने के अधिकार दे दिए, ये बड़े ज़मींदार अब असल में खेती कर रहे लोगों से मिलने वाले लगान पर निर्भर होकर जीने लगे। अंततः परजीवी बिचौलियों की कई श्रेणियाँ पैदा हो गईं जो कि असल में खेत जोत रहे लोगों के श्रम पर जीने लगीं। ज़मीनों के लगान बेहद बढ़ गए। अपने जंमीदारी क्षेत्र के स्थानीय प्रशासन व कानून और व्यवस्था का नियंत्रण पूरी तरह से ज़मींदारों और उनके दलालों के हाथ में आ गया। हालांकि बिहार लैंड रिफार्म ऐक्ट 1950 के तहत जंमींदारी प्रथा को रद्द कर दिया गया था, परन्तु खुदकाश्त ज़मीनों के साथ साथ अपनी गैर मज़रुआ खास ज़मीनें जंमींदारों के पास ही रहीं जिन पर उनका नियंत्रण था और जिन्हें उनके अपंजीकृत जोतदार /बटाईदार जोतते थे। जिन किराएदारों के पास ज़मीनों के पट्टे थे, उन्हें भी भूमि संबंधी अधिकार मिले और उनमें से बड़े जोतदार जंमींदारों के एक नए वर्ग के रूप में उभरे। पुराने और नए दोनों ही ज़मींदार खुद खेती नहीं करते थे और बटाईदारों और विरासती जोतदारों के श्रम पर जीते थे। बिहार सरकार को लैंड सीलिंग एक्ट 1961 पारित करने में पूरा एक दशक और उसके बाद इसे लागू करने में एक और दशक लग गया, यह अंततः 9 सितम्बर 1970 को लागू हुआ। इस देरी ने बड़े ज़मींदारों को पर्याप्त समय दिया जिसमें उन्होंने अपनी ज़मीनों को अपने परिवार के लोगों के बीच, बेनामी स्वामित्व, जाली ट्रस्ट के स्वामित्व और अन्य तरीकों से स्थानान्तरित करके बचा लिया। कई क्षेत्रों में ये नए ज़मींदार, जो कि उस समय के बड़े बटाईदारों में से उभरे थे, पिछड़ी जातियों में से भी थे। इससे अलग तरह के कृषि संबंधी और राजनीतिक तनाव पैदा हुए – जो कि एक तरफ ब्राह्मण, भूमिहार, राजपूत और कायस्थ जातियों के परंपरागत अभिजात्य वर्ग और दूसरी तरफ पिछड़ी जातियों मुख्यतः कुरमी और यादव जातियों के भूस्वामियों बीच थे। ये दोनों ही तरह के ज़मींदार, जिनका दुनिया को देखने का नज़रिया और बटाईदारों और कृषि मज़दूरों के प्रति रवैया एक जैसा है, 'मालिक' कहलाते हैं। आर्थिक और सामाजिक निम्न वर्गों की ओर से पड़े दबावों के जवाब में सरकार ने धीमे धीमे कई भूमिसुधार और बटाई संबंधी कानून बनाए पर इनका दुर्भाग्यपूर्ण असर यह हुआ कि विरासती जोतदार अपनी उन ज़मीनों से बेदखल हो गए जिन्हें वे जोता करते थे। बिहार में भूमिहीनता की जड़ें भूमि के अधिकारों से वंचित किए जाने के लंबे इतिहास के साथ जुड़ी हैं।

इस परिस्थिति में व्यापक रूप से यह स्वीकारा गया कि प्रदेश के आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय और बराबरी को भूमि सुधारों से बल मिलेगा। उदाहरण के लिए नब्बे के दशक में बिहार में प्रति व्यक्ति आय के संबंध में कृषि की विकास दर ऋणात्मक थी, जबकि यहाँ देश की कुछ सबसे उपजाऊ ज़मीन मौजूद है। ढांचागत कारणों को इसका ज़िम्मेदार माना गया। यह भी बड़े स्तर पर स्वीकारा गया है कि बड़े भूस्वामियों की राजनीतिक पहुँच और प्रशासन पर उनका नियंत्रण, बिहार में भूमि सुधारों की निराशाजनक सफलता के कारण रहे हैं। परन्तु, प्रदेश में भूमिहीन और लगभग भूमिहीन लोगों की बेहद बड़ी संख्या और लगातार चल रहे कृषि संकट के कारण आज भी यह एक ज्वलंत मुद्दा बना हुआ है। यहाँ तक कि नीतीश कुमार की सरकार ने 2005 तक में पश्चिम बंगाल में भूमि सुधार नीतियों के क्रियान्वन से निकटता से जुड़े नौकरशाह, डी. बंदोपाध्याय की अध्यक्षता में बिहार लैंड रिफार्म कमीशन का गठन किया था। कमीशन ने अप्रैल 2008 में सरकार को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की थी जिसमें सिफारिशों की एक लंबी सूची थी। परन्तु नीतीश सरकार ने 2009 में यह घोषणा कर दी कि वे कमीशन की इन सिफारिशों को लागू नहीं करेंगे (इकनामिक एंड पोलिटिकल वीकली, 21 नवम्बर 2009)। इस खेदपूर्ण स्थिति के अलावा भी यहाँ की अन्य दुखद सच्चाइयाँ हैं – जातिगत उत्पीड़न की चरमसीमा, हर स्तर पर भ्रष्ट अधिकारियों से बना एक निष्क्रिय राजकीय ढांचा, दमनकारी पुलिस मशीनरी और एक राजनीतिक प्रक्रिया जो किसी भी तरह का वास्तविक बदलाव ला सकने में अक्षम है। बिहार में जहाँ अलग अलग जिलों और क्षेत्रों में अक्सर या तो एक या दूसरी जाति के ज़मींदारों का बहुमत और प्रभुत्व है, जाति की पहचान प्रभावी वर्गों को भूमि और इस तरह से रोज़गार पर अपना एकाधिपत्य जमा पाने का ज़रिया देती है। ऐसा

इसलिए क्योंकि रोज़गार का मुख्य साधन कृषि ही है। यह पहचान अपनी जाति के बड़े और छोटे ज़मींदारों को एकजुट रख कर संख्यात्मकरूप में इस शक्ति को बढ़ाने में मदद करती है। इससे इन सभी ज़मींदारों को फायदा होता है क्योंकि इस एकजुटता से कृषि मज़दूरों को बेहद कम मज़दूरी देने, बटाईदारी ठेकों में उपज का ज़्यादा से ज़्यादा हिस्सा हड़पने, गरीब ग्रामीणों को कर्ज़ के बंधन में फंसा लेने और उनका और खासकर महिलाओं का बर्बर शोषण करने में मदद मिलती है।

मध्य बिहार के कई भागों में इस शोषण के विरोध में गरीब किसानों ने जन संगठन बना कर खुद को लामबंद्ध किया और संघर्ष शुरू किया। 1970 के दशक से इनमें से कई संगठन एक या दूसरे मार्क्सवादी – लेनिनवादी (एम.एल.) या नक्सलवादी दलों से जुड़े थे। अस्सी और नब्बे के दशक में यहाँ मुख्यतः तीन संगठन थे – कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इंडिया (मार्कसिस्ट– लेनिनिस्ट) (सी.पी.आई. (एम.एल.)) लिबरेशन, सी.पी.आई. (एम.एल.) पार्टी यूनिटी और माओइस्ट कम्यूनिस्ट सैंटर (एम.सी.सी.)। इन से जुड़े जन संगठन थे किसान सभा, मज़दूर किसान मुक्ति मंच (एम.के.एम.एम.) और क्रांतिकारी किसान कमिटी (के.के.सी.)। बिहार की स्थिति पर हमारी अपनी जाँच और कई अन्य रिपोर्टों से पता चलता है कि इन संगठनों ने बिहार के किसानों को निम्नलिखित तीन मांगों के लिए संगठित किया :

1) उचित कृषि मज़दूरी की व्यवस्था
2) जोतने वाले को ज़मीन, खासकर सरकारी और गैर मज़रुआ ज़मीन का भूमिहीन किसानों में वितरण
3) मानवीय गरिमा और सम्मान

यह तीनों मांगें वे हैं जिनकी गारंटी देश का कानून देता है। 'बिहार लैंड रिफार्मस कमीशन' (2008) की रिपोर्ट में भी यह नोट किया गया है कि 'लगभग ये सभी मांगें न केवल जायज़ हैं बल्कि वैधानिक भी हैं। पंचवर्षीय योजना के दस्तावेजों (पृष्ठ 12) में भी इनका अनुमोदन किया गया है। परन्तु आरंभ से ही लोगों को उनके इन वैधानिक अधिकारों के लिए संगठित करने वाले संगठनों को राजसत्ता की ओर से और ज़मींदारों की ओर से गहन दमन का सामना करना पड़ा। ज़मींदारों ने अपनी मनमानी चलाए रखने के लिए कई हथियारबंद समूहों का गठन किया, जो सेनाएं कहलाईं। ये सेनाएं आमतौर पर जातिगत आधार पर बनीं। भूमि सेना कुर्मियों की सेना थी, लौरिक सेना यादवों की, सवर्ण लिबरेशन फ्रंट और रणवीर सेना भूमिहारों की, सनलाइट सेना राजपूतों की आदि। इन सभी सेनाओं के कार्यकलापों के संबंध में पुलिस और प्रशासन की भूमिका, मिलीभगत से लेकर असंवेदनशील उदासीनता की रही।

rkfydk		t:ehnkjksa dh lsuk,a	
uke	LFkkiuk dk lky	tkfr lacèk	dk;ZokbZ dk {ks=
किसान सुरक्षा समिति	1979	कुरमी	पटना, जहानाबाद, गया
कुअर सेना	1979	राजपूत	भोजपुर
भूमि सेना	1983	कुरमी	पटना, जहानाबाद, नवादा, नालंदा
लौरिक सेना	1984	यादव	पटना, जहानाबाद, नालंदा
किसान सेना	1984	राजपूत ब्राहमण	पलामू, औरंगाबाद
सनलाइट सेना	1989	राजपूत, पठान	पलामू, गढ़वा, गया
सवर्ण लिबरेशन फ्रंट	1990	भूमिहार	गया, जहानाबाद
किसान मोर्चा	1990	राजपूत	भोजपुर
गंगा सेना	1990	राजपूत	भोजपुर
रणवीर सेना	1994	भूमिहार	भोजपुर, पटना, मज़रुआबाद, गया, रोहतास, औरंगाबाद

t·ehuh gdhdr

उन्नीस सौ अस्सी और नब्बे के दशकों में पी.यू.डी.आर. ने बिहार के मैदानी इलाकों में अत्याचारों और जन आंदोलनों पर दमन की पड़ताल के लिए कई जाँच दल भेजे। इन दलों की रिपोर्टों से उन गाँवों के लोगों की ज़िंदगियों और संघर्षों की ज़मीनी हकीकतों के बारे में पता चलता है जहाँ ये जाँच दल गए। इसलिए शुरूआत हम 1981, 1986, 1992, 1996 और 1999 में इस क्षेत्र का दौरा करने वाले अपने पाँच दलों के जाँच परिणामों के सारांश से कर रहे हैं। राजसत्ता के गहन दमन और साथ में ज़मींदारों के दमन के बावजूद जिन तीन मुख्य मुद्दों ने लोगों को संघर्ष की ओर ढकेला वे थे, मज़दूरी, ज़मीन और गरिमा/अस्मिता। आगे हम एक एक करके इन्हीं मुद्दों पर बात करेंगे।

cgn ekeyh et·njh %

हमारी प्रत्येक रिपोर्ट बताती है कि कृषि मज़दूरों को असल में दी जा रही मज़दूरी और सरकार द्वारा कृषि मज़दूरों के लिए निर्धारित न्यूनतम मज़दूरी में भारी अंतर था। 1981 में पी.यू.डी.आर. की एक टीम ने, पुलिस की गोलीबारी और मनमाने ढंग से किसानों की गिरफ्तारियों की खबरों के बाद पटना जिले के कई ग्रामीण ब्लॉकों का दौरा किया (पी.यू.डी. आर. रिपोर्ट 'अग्रेरिअन अनरेस्ट इन पटना', 1981)। टीम ने पाया कि जिन गाँवों का दौरा उसने किया वहाँ बहुत बड़ा प्रतिशत ऐसे किसानों का था जो या तो भूमिहीन थें या जिनके पास इतनी कम ज़मीन थी कि वह परिवार का पेट पालने के लिए काफ़ी नहीं थी। ये लोग अपने को जीवित रख पाने के लिए कृषि मज़दूरों के रूप में काम करने पर मजबूर थे। परन्तु इन्हें मिलने वाली मज़दूरी बहुत ही कम थी। टीम को गाँवों में बड़े पैमाने पर बंधुआ मज़दूरी (हरवाहा व्यवस्था) के भी उदाहरण मिले। इन मज़दूरों को आमतौर पर थोड़ी सी (एक तिहाई से लेकर आधा एकड़ तक) ज़मीन पट्टे पर और थोड़ा सा कर्ज़ा दे दिया जाता था और वे मालिकों का काम करने के लिए बंध जाते थे। एक दिन के श्रम के लिए एक हरवाहा को आधा किलो चावल, आधा किलो सत्तू और एक समय के भोजन से लेकर एक सेर कच्चे चावल (802 ग्राम) व उससे आधी मात्रा में सत्तू (बिना भोजन के) मज़दूरी के रूप में मिलता था। गाँव की स्थानीय कीमतों के आधार पर टीम ने अंदाज़ा लगाया कि इतनी मज़दूरी 2.33 से 2.5 रुपयों के बराबर थी। जबकि उस समय वैधानिक न्यूनतम मज़दूरी एक समय के भोजन के साथ 4.50 से 5.0 रुपये प्रतिदिन और जोतने के लिए आधा एकड़ ज़मीन थी।

1986 में अरवल नरसंहार, जिसमें 23 गरीब किसान पुलिस की गोलीबारी में मारे गए थे, के बाद एक जाँच दल ने मध्य और दक्षिण बिहार का दौरा किया (पी.यू.डी.आर. रिपोर्ट 'बिहाइंड द किलिंग्स इन बिहार' 1986)। टीम ने जहानाबाद जिले में कृषि मज़दूरों से विस्तृत बातचीत की और पाया कि बंधुआ मज़दूरी की व्यवस्था अभी भी कायम थी, पर अधिकांश मज़दूर छुट्टा यानी स्वतंत्र मज़दूर थे। कृषि मज़दूरी अभी भी कम थी। मज़दूरों को प्रतिदिन 1.25 किलो चावल मिलता था जबकि वैधानिक न्यनूतम मज़दूरी 3 किलो चावल थी। थोड़ा सा नाश्ता भी दिया जाता था। कटाई के मौसम में मज़दूरों को 17 बोझों की कटाई पर एक बोझा दिया जाता था। टीम ने गणना की कि यह 1.4 किलो चावल प्रति मज़दूर प्रति दिन के बराबर था।

पट्टेदारी और मज़दूरी से आय का स्तर कम होने के कारण कृषि मज़दूरों के परिवार स्थाई रूप से कर्ज़दार हो जाते थे। टीम ने पाया कि ब्याज दरें बहुत ही ऊँची थीं (25–30 प्रतिशत दर प्रति वर्ष) और बहुत से परिवार कर्ज़ में दबे हुए थे।

पटना, गया और जहानाबाद जिलों में सवर्ण लिबरेशन फ्रंट द्वारा दलित भूमिहीनों के कई एक नरसंहारों और माओइस्ट कम्यूनिस्ट सैंटर द्वारा गया में एक नरसंहार की रिपोर्टों के बाद 1992 में पी.यू.डी.आर. की एक टीम ने फिर से मध्य बिहार का दौरा किया (पी.यू.डी.आर. रिपोर्ट 'ये फसल उम्मीदों की हमदम', 1992)। टीम ने पाया कि अब अलग अलग जगह पर कृषि मज़दूरी अलग अलग थी और यह फर्क मालिक और कृषि मज़दूर की तुलनात्मक सामाजिक शक्ति पर निर्भर था। टीम ने पाया कि जिन गाँवों में एम.एल. किसान संगठनों की उपस्थिति थी वहाँ सामान्यतः दैनिक मज़दूरी बढ़ कर 2.0–2.5 किलो चावल हो गई थी। हालांकि अभी भी यह वैधानिक न्यूनतम मज़दूरी 3 किलो अनाज और एक समय का खाना (आमतौर पर सत्तू) या 16.50 रुपयों से कम थी। परन्तु गया के कुछ हिस्सों में जहाँ राजपूत और पठान ज़मींदार अभी भी खासे ताकतवर थे, मज़दूरी 2 सेर (करीब 1.3 किलो) कच्चे चावल थी, जबकि अन्य जातियों के छोटे ज़मींदार 2 किलो चावल मज़दूरी के रूप में देते थे।

पी.यू.डी.आर. की एक और टीम ने 1996 में रणवीर सेना

की ज़्यादितयों का अध्ययन करने के लिए बिहार का दौरा किया (पी.यू.डी.आर. रिपोर्ट 'बिहार में किसान संघर्ष और रणवीर सेना' 1997)। टीम को एक भी गाँव ऐसा नहीं मिला जहाँ आधिकारिक दैनिक न्यूनतम मज़दूरी 30.50 रुपये दी जाती हो। सबसे कम मज़दूरी बनिहारों और हरवाहा व्यवस्था के तहत बंधुआ मज़दूरों को मिलती थी।

1999 में एक बार और पी.यू.डी.आर. की टीम ने सामूहिक हत्याओं की कई घटनाओं के बाद मध्य बिहार का दौरा किया (पी.यू.डी.आर. रिपोर्ट 'ए टाइम टू किल' 1999)। टीम ने एक बार फिर पाया कि मज़दूरी का इससे सीधा संबंध है कि गाँव में एम.एल. संगठन शक्तिशाली हैं या नहीं। इस तरह से शंकरबीघा गाँव में मज़दूरों को प्रतिदिन 3 किलो चावल और नाश्ता मिलता था, परन्तु पास के धोबीबीघा गाँव में केवल 1. 5 किलो चावल मिलता था। नारायणपुर गाँव में एक स्थानीय मठ के खिलाफ संघर्ष के बाद दैनिक मज़दूरी 2 किलो चावल, आधा किलो सत्तू और नाश्ता हो गई थी। भीमपुरा और सेनारी गाँवों में भी इतनी ही मज़दूरी मिलती थी। टीम ने पाया कि बंधुआ मज़दूरी की हरवाहा व्यवस्था अभी भी चल रही थी और बंधुआ मज़दूरों, यानी बनिहारों को 1.5 किलो अनाज प्रति दिन और खेती के लिए एक तिहाई से आधा एकड़ ज़मीन दी जाती थी।

कृषि मज़दूरों को क्योंकि साल के केवल 4 महीनों में ही खेत में काम मिल पाता है इतनी कम मज़दूरी से उनका निर्वाह बहुत मुश्किल से हो पाता था। इसलिए कृषि मज़दूरी को सरकारी रूप से तयशुदा न्यूनतम मज़दूरी तक पहुँचाना क्षेत्र में आंदोलन के लिए बहुत अधिक प्रभावशाली मुद्दा था। हमारे जाँच दलों ने पाया कि किसान संगठनों के संघर्षों से मज़दूरी बढ़ी ज़रूर पर नब्बे के दशक के अंत तक भी वह न्यूनतम मज़दूरी तक नहीं पहुँच पाई थीं उन जगहों पर जहाँ नियोक्ताओं की तुलना में किसान संगठन मजबूत नहीं थे, दो दशकों के अंतराल में खास अंतर नहीं दिखाई दिया।

tehu dh fy, l?k"k

इस क्षेत्र में दो तरह की ज़मीन के लिए संघर्ष था। पहला, सरकारी भूमि यानी 'गैर मज़रुआ खास' पर कब्ज़े के लिए संघर्ष। दूसरा ज़मीनदारों के कब्ज़े में राजसत्ता द्वारा या एम. एल. संगठनों द्वारा तयशुदा सीमा से ज़्यादा ज़मीन के पुनर्वितरण के लिए संघर्ष। हमारे जाँच दलों को इन गाँवों में दूसरी तरह के संघर्ष के बहुत उदाहरण नहीं मिले परन्तु पहले के अनेकों उदाहरण सामने आए।

गैर मज़रुआ भूमि वह भूमि होती है जो कि औपनिवेशिक समय में ज़मींदारों के अधिकार क्षेत्र में नहीं थी और इस तरह से स्वतः ही राजसत्ता के पास थी। यह भी दो तरह की होती है – गैर मज़रुआ आम और गैर मज़रुआ ख़ास। गैर मज़रुआ आम भूमि समुदाय की भूमि होती है यानी गाँव की साझी जगहों जैसे गाँव के हाट के लिए, मवेशियों की चराई के लिए, पोखरों के लिए आदि। गैर मज़रुआ खास ज़मीन वह कृषि योग्य भूमि होती है जो कि वस्तुतः स्थानीय ज़मींदारों के अधिकार में आ गई और औपनिवेशिक समय में इसे 'ख़ास' नाम दिया गया। सिंचाई के पारंपरिक तरीकों में गिरावट आने से 'आम' भूमि भी कृषि के लिए इस्तेमाल होने लगी और इस पर गाँव के शक्तिशाली वर्गों का कब्ज़ा होता गया। मध्य बिहार में भूमिहीनों और लगभग भूमिहीनों के लिए गैर मज़रुआ भूमि पर बंदोबस्ती और जुताई के मालिकाना अधिकार के लिए महत्वपूर्ण संघर्ष हुए हैं। यह मांग भी असल में राजसत्ता की आधिकारिक नीति के अनुसार ही थी, पर ज़ाहिर है जिसका पालन कभी नहीं हुआ था! इनमें से कुछ संघर्ष आम संपत्ति संसाधनों तक पहुँच के लिए थे, खासकर मछली पकड़ने के अधिकार के लिए। जहानाबाद के कंसारा मे ब्रह्मर्षि सेना से जुड़े एक स्थानीय ज़मीनदार के साथ मछली पकड़ने के अधिकार को लेकर एक संघर्ष हुआ था जिसमें एम.के.एम.एम. से संबंधित 4 बीड़ी (तेंदू) मज़दूर मारे गए (पी.यू.डी.आर. रिपोर्ट बिहाइंड द किलिंग इन बिहार)। ऐकिल, जहानाबाद, में गाँव का पोखर दलित लोगों की पहुँच से बाहर था (पी.यू.डी.आर. रिपोर्ट ये फसल उम्मीदों की हमदम)। अगर वे पोखर में से मछली पकड़ने जाते थे तो उन्हें पीटा जाता था। इसी तरह से घर बनाने के लिए गैर मज़रुआ भूमि पर कब्ज़ा करना अरवल के कुख्यात नरसंहार का कारण बना, जिसमें 19 अप्रैल 1986 को एक सार्वजनिक सभा पर पुलिस की गोलीबारी में 23 लोग मारे गए थे और कई अन्य घायल हुए थे (पी.यू.डी.आर. रिपोर्ट बिहाइंड द किलिंग्स इन बिहार)। यह सार्वजनिक सभा सिंचाई विभाग के एक इंजीनियर द्वारा 0.27 एकड़ गैर मज़रुआ भूमि धोखे से हथियाने की कोशिश के विरोध से संबंधित थी। इस ज़मीन पर 9 भूमिहीन परिवार रह रहे थे, जिन्हें उस पर से बेदखल करने की कोशिश हो रही थी। ज़मीन की बढ़ती कीमतों के कारण स्थानीय अभिजात वर्ग द्वारा भ्रष्ट अधिकारियों की मिली भगत से गैर मज़रुआ ज़मीन को धोखे से बेच देना पूरे

बिहार में बहुत बड़े पैमाने पर होता रहा है।

भूमिहीनों और लगभग भूमिहीनों द्वारा गैर मज़रुआ ज़मीन पर कब्ज़ा करना संघर्ष का एक और मुद्दा था। यहाँ यह ध्यान देना ज़रूरी है कि भूमिहीनों को घर बनाने और खेती के लिए गैर मज़रुआ ज़मीन का आबंटन लंबे समय से सरकार की आधिकारिक नीति रही थी। परन्तु जब तक किसान संगठनों ने इसे मुद्दा नहीं बनाया, इस संबंध में कुछ नहीं हुआ। हमारे जाँच दलों को पता चला कि कई गाँवों में काफी सारी गैर मज़रुआ ज़मीन थी – 200 एकड़ या उससे भी अधिक। उदाहरण के लिए जहानाबाद के ऐकिल गाँव में 150 एकड़ गैर मज़रुआ ज़मीन ज़मींदारों ने गैरकानूनी ढंग से हथियाई हुई थी। हालांकि जब टीम ने इस गाँव का दौरा किया तब तक वहाँ इस मुद्दे को लेकर कोई संघर्ष नहीं हुआ था। सावनबीघा में सवर्ण लिबरेशन फ्रंट द्वारा एम.के.एम.एम. के तीन समर्थकों की हत्याओं का सीधा संबंध नारायणपुर गाँव की 3.5 एकड़ गैर मज़रुआ ज़मीन के लिए संघर्ष से था। गैर मज़रुआ ज़मीन के लिए संघर्षों में शामिल हैं पारासोना – जहानाबाद में 22 एकड़ के लिए, आकुरी – पटना में 7.5 एकड़ से अधिक ज़मीन के लिए और जलपुरा और बथानी टोला और साथ ही भोजपुर जिले के सहर–संदेश ब्लॉकों में कई एक संघर्ष। इन सभी मामलों में किसान संगठनों द्वारा इसे मुद्दा बनाए जाने से पहले ज़मीन पर एक या एक से ज़्यादा स्थानीय ज़मींदारों का कब्ज़ा था। 1996 में पी.यू.डी.आर. के जाँच दल ने पाया कि उसके द्वारा सामूहिक हत्याओं की जितनी भी घटनाओं की जाँच की गई, लगभग उन सभी के पीछे मज़दूरी या गैर मज़रुआ ज़मीन का मुद्दा शामिल था। इस जाँच दल को भोजपुर के जिला मजिस्ट्रेट ने बताया था कि भोजपुर जिले में करीब 3400 एकड़ गैर मज़रुआ ख़ास और 588 एकड़ गैर मज़रुआ आम बंदोबस्ती के उपयुक्त ज़मीन थी। उन्हीं के अनुसार जिले में 14,655 एकड़ गैरमज़रुआ ख़ास और 12,404 एकड़ गैर मज़रुआ आम ज़मीन भी थी जो कि बंदोबस्ती के लायक नहीं थी। अन्य जिलों के आंकड़े हमारे पास उपलब्ध नहीं हैं।

गैर मज़रुआ ज़मीन के अलावा किसान संगठनों ने अधिशेष भूमि यानी ज़मींदारों के कब्ज़े में सीलिंग सीमा (चकबंदी) से अधिक भूमि के पुनःवितरण का मुद्दा भी उठाया। बिहार में चकबंदी की आधिकारिक सीमा, ज़मीन की गुणवत्ता के आधार पर निर्धारित होती है और यह 15 एकड़ सिंचित भूमि से लेकर 30 एकड़ असिंचित भूमि तक हो सकती है। परन्तु यह चकबंदी कहीं भी लागू नहीं है। एक के बाद एक गाँवों में पी.यू.डी.आर. के जाँच दलों को ज़मींदारों के बारे में बताया गया जिनके पास सीलिंग सीमा से अधिक ज़मीन और कुछ मामलों में तो बहुत ही अधिक ज़मीन थी।

ekuoh; xfjek vkj tkfr vkèkkfjr neu

पी.यू.डी.आर. के जाँच दलों ने जिन लोगों से बात की उनमें से कइयों के लिए एक और प्रमुख मुद्दा गरीब किसानों और कृषि मज़दूरों की मानवीय गरिमा का था। बहुत सारे गरीब और भूमिहीन किसान पी.यू.डी.आर. के जाँच दलों से कहते थे कि ज़मींदार और उनके के रिश्तेदार सामंती मानसिकता रखते हैं। इसके लिए वे लोग रोज़मर्रा में होने वाले दमन की अनेकों घटनाओं का हवाला देते थे। पी.यू.डी.आर. के हर जाँच दल को नीची जातियों के गरीब किसानों और कृषि मज़दूरों ने, सवर्ण ज़मींदारों द्वारा उनसे गाली गलोज, मारपीट और छेड़छाड़ करने की घटनाओं के बारे में बताया। कथित निचली जातियों के लोगों को गाँव के हर हिस्से में नहीं जाने दिया जाता था, सवर्ण जाति के ज़मींदारों के सामने बैठने नहीं दिया जाता था। महिलाओं को इस दमन का अतिरिक्त खामियाजा भुगतना पड़ता था और महिला कृषि मज़दूरों को खेतों पर नियमित रूप से यौन उत्पीड़न भुगतना पड़ता था।

यह सारा उत्पीड़न तब कई गुना बढ़ गया जब ये कृषि मज़दूर संगठित होने लगे और अपने अधिकारों की मांग करने लगे। सवर्ण जातियों के ज़मींदारों ने मुख्यतः कथित निचली जातियों के गरीब मज़दूरों के इस रवैये को 'वर्चस्व की लड़ाई' यानी कि अपने सैंकड़ों साल पुराने आधिपत्य के खिलाफ प्रभुत्व जमाने की लड़ाई के रूप में देखा। उन्होंने इसके जवाब में निजी सेनाएं बनाना और उनके द्वारा गरीब ग्रामीणों की सामूहिक हत्याएं करवाना शुरू कर दिया।

मध्य बिहार में विभिन्न जातियों के ज़मींदारों की जो सेनाएं पनपीं उनमें भूमिहारों की रणवीर सेना सबसे अधिक शक्तिशाली और क्रूर सेना थी। इसका एक कारण यह था कि यह भूमिहारों की सेना थी, जो कि पारंपरिक रूप से बिहार की सबसे प्रभावी जाति थी और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश जस्टिस बी.एन. अग्रवाल और जस्टिस ए. पसायत, (जिन्होंने बारा नरसंहार मामले में निर्णय दिया था) के शब्दों में इस जाति ने 'बिहार पर शासन किया था'। साथ ही रणवीर सेना उस समय पनपी जिस समय राजसत्ता वामपंथी अतिवाद को

भारत की आंतरिक सुरक्षा के सबसे बड़े खतरे की तरह देख रही थी। इस तरह से बिहार में, पारंपरिक रूप से भूमिहारों से भरे प्रशासन को, भूमिहारों की सेना के रूप में एक वास्तविक मित्र मिल गया जो कि एक साझा दुश्मन यानी अपने अधिकारों के लिए आवाज़ उठा रहे गरीब मज़दूरों, से लड़ने के लिए उभरा था। इससे सेना और राजसत्ता के बीच बेहद करीबी रिश्ता बन गया। यह रिश्ता सेना को अपनी क्रूरता के बावजूद मिले अनौपचारिक राजनीतिक संरक्षण में बहुत साफ दिखाई देता है।

j.kohj lsuk vkj jkt lÙkk

कोबरा पोस्ट के 2015 के खुलासे से शायद और भी अधिक तहलका मचता अगर यह बिहार की जगह किसी और प्रदेश के संबंध में होता। यह खुलासा बहुत ही दुर्भागयपूर्ण था क्योंकि इस पर्दाफाश का सबसे अहम पहलू रणवीर सेना के नेताओं का एकदम साफतौर पर यह स्वीकारना था कि उन्हें भाजपा के नेताओं और नीतीश कुमार सरकार से जुड़े अन्य महत्वपूर्ण राजनीतिक लोगों का सहयोग मिला हुआ था।

वैसे इन संबंधों के बारे में सभी को पता था, पर कभी इनका संज्ञान नहीं लिया गया। 1997 की हमारी जाँच में स्थानीय लोगों ने सेना और राजनीतिज्ञों के निकट संबंधों के बारे में टीम को बताया था, उन्होंने ख़ासकर भाजपा के प्रदेश स्तर के नेताओं जनार्धन शर्मा और सी.पी.ठाकुर के नाम लिए थे। यह भी माना जाता था कि जनता पार्टी और समता पार्टी के स्थानीय पदाधिकारियों के भी सेना से नज़दीकी संबंध थे।

दिसम्बर 1997 में लक्ष्मणपुर बाथे के नरसंहार, जिसमें रणवीर सेना ने 58 लोगों की हत्याएं कीं थीं, के बाद राज्य सरकार ने रणवीर सेना की जाँच के लिए सेवानिवृत न्यायाधीश जस्टिस अमीर दास के नेतृत्व में एक जाँच आयोग बिठाया था। जब यह आयोग अपनी रिपोर्ट जारी करने वाला था तब अचानक नीतीश कुमार की सरकार ने इसे भंग कर दिया। आयोग को भंग कर दिए जाने के बाद प्रेस में लीक हुई इसकी रिपोर्ट से साफ़ ज़ाहिर है कि आयोग को भंग करने का मुख्य कारण यह था कि आयोग भाजपा और नीतीश कुमार की अपनी पार्टी के कई वरिष्ठ नेताओं के नाम उजागर करने वाला था। जिस समय आयोग अपने काम को समेट रहा था उस समय भाजपा के कई बड़े नेताओं के रणवीर सेना के साथ संबंधों की खबरें मीडिया में आ रही थीं। अप्रैल 2006 में सी.एन.एन.–आई.बी.एन. ने भंग कर दिए गए अमीर दास आयोग के बारे में एक कार्यक्रम दिखाया (www.ibnlive.com.videos.india. caste-army-has-politician-friends-234634.html) अपूर्ण रिपोर्ट की लीक हो गई कॉपी के आधार पर इस कार्यक्रम में दावा किया गया कि आयोग 37 राजनीतिज्ञों का नाम लेने वाला था और इसे इसलिए भंग कर दिया गया क्योंकि अगर इनके नाम चुनावों से ठीक पहले बाहर आ जाते तो इन्हें टिकट मिलना मुश्किल हो जाता। इस कार्यक्रम में बताया गया कि सी.पी.ठाकुर ने 1997 में हैबसपुर नरसंहार, जिसमें रणवीर सेना ने सबसे दबे कुचले समुदाय यानी मूसहरों के 10 भूमिहीन मज़दूरों को मार डाला था, से पहले रणवीर सेना की बैठकों में हिस्सा लिया था। यह भी बताया गया कि वे सेना के प्रमुख लीडर ब्रहमेश्वर मुखिया के करीबी थे। इस कार्यक्रम के अनुसार भाजपा के राष्ट्रीय नेता मुरली मनोहर जोशी ने पालीगंज थाने के इन्चार्ज को हैबसपुर नरसंहार मामले में कोई भी कार्रवाई करने पर परिणाम भुगतने की धमकी दी थी। और भी बहुत से राजनीतिज्ञों ने चुनावों में सेना का आसरा लिया था। इसमें भाजपा के प्रदेश स्तर के नेता सुशील कुमार यादव और आर.जे.डी. के अखिलेश सिंह और कांति सिंह शामिल थे। इस मीडिया रिपोर्ट में जिन अन्य लोगों के नाम लिए गए थे वे थे शिवानंद तिवारी, राम जतन सिंह और नंद किशोर यादव।

यह आरोप कि अमीर दास आयोग को इसलिए भंग कर दिया गया क्योंकि इसके निष्कर्ष सत्तारूढ़ पार्टियों के लिए असुविधाजनक थे, केवल 2006 का सी.एन.ए.–आई.बी.एन. का कार्यक्रम ही नहीं लगा रहा था। और केवल यही वह समय नहीं था जब राष्ट्रीय प्रैस ने रणवीर सेना और राजसत्ता के साथ इसके गठजोड़ के बारे में टिप्पणी की थी। 9 अक्टूबर 2013 को में मीडिया में एक वास्तविक तूफान खड़ा हो गया था जब लक्ष्मणपुर बाथे नरसंहार में हिस्सा लेने वाले, सत्र न्यायालय द्वारा दोषी ठहराए गए सभी 26 अभियुक्तों को पटना उच्च न्यायालय ने बरी कर दिया था। 1 जून 2012 को रणवीर सेना के प्रमुख ब्रहमेशवर सिंह मुखिया की हत्या के बाद उसके समर्थकों ने आरा और पटना में आतंक मचा दिया था। उन्होंने कई एक उत्पाद किए, दलित छात्रावासों पर हमले किए और पुलिस चुपचाप देखती रही। इसी तरह से 2015 में कोबरा पोस्ट के पत्रकारों द्वारा रणवीर सेना के सदस्यों के साक्षात्कारों से फिर नए खुलासे हुए। इस पर्दाफाश में भी वरिष्ठ नेताओं पर आरोप लगे, जैसे पूर्व प्रधानमंत्री

चंद्रशेखर पर और भाजपा के नेता यशवंत सिन्हा पर हथियार और पैसा हासिल करने में सेना की मदद करने और जहानाबाद के सांसद अरुण कुमार (राष्ट्रीय समता पार्टी) द्वारा सेना के सदस्यों को अपनी कार में भगाने के खुलासे हुए।

इस सब के बावजूद सेना और राजनीतिक नेताओं के संबंधों की कोई आधिकारिक जाँच कभी नहीं हुई, नरसंहारों में उनकी सहभागिता की हद के बारे में कोई तहकीकात नहीं हुई और राजसत्ता के अन्य अधिकारियों की सेना के कार्यकलापों में भागीदारी हमेशा छिपी रही। इस तरह से कभी कुछ नहीं बदला और वे सब जो कि दलित मज़दूरों के खिलाफ षड़यंत्र में शामिल थे, बचते रहे।

रणवीर सेना को 1995 में प्रतिबंधित कर दिया गया था पर उसके द्वारा किए गए हत्याकांडों की घटनाओं से ज़ाहिर है कि इससे उसके द्वारा किए गए अपराधों में कोई फर्क नहीं पड़ा।

2- ^ckjk* dk ekeyk

गया जिले के टेकारी ब्लॉक में स्थित बारा गाँव मुख्यतः सवर्ण जाति बहुल गाँव है। बारा का नरसंहार एम.सी.सी. द्वारा भूमिहार जाति पर किये गये सबसे नृशंस हमलों में से एक था। ये हत्याएं सवर्ण जाति की सेनाओं द्वारा इससे पिछले साल सावनबीघा गाँव (जहानाबाद), रामपुर छाई (जहानाबाद), तिनदिहा (गया) और मेन–बरसीवान (गया) में हुए नरसिंहारों का बदला लेने के लिए की गईं थीं। सितम्बर 1991 में सावनबीघा गाँव में 7 भूमिहीन मज़दूरों की हत्या हुई थी, अक्टूबर 1991 में मेन–बरसीवान में दलित टोले पर हुए हमले में 10 लोग मारे गए थे (पी.यू.डी.आर. रिपोर्ट ये फसल उम्मीदों की हमदम)। दोनों हत्याकांडों को सवर्ण लिबरेशन फ्रंट द्वारा रामाधर सिंह 'डायमंड' और हरिद्वार सिंह के नेतृत्व में अंजाम दिया गया था। जब एम.सी.सी. ने बारा में हमला करके बदला लिया, तो हमलावर असल में सवर्ण लिबरेशन फ्रंट के इन दोनों नेताओं को ढूंढने आए थे, जो उनके अनुसार गाँव में छिपे हुए थे।

12 फरवरी 1992 की रात को करीब 9.30 बजे 500 से ज़्यादा लोगों का दस्ता गाँव में इन दोनों को ढूंढने के लिए घुसी। कुछ ने पुलिस की वर्दियाँ पहन रखीं थीं। दस्ते ने भूमिहार पुरुषों को, जो कि करीब 100 थे, अलग किया और बाकी के पुरुषों, महिलाओं और बच्चों को छोड़ दिया। भूमिहार पुरुषों के हाथ पीछे बांध कर, उन्हें पास की नहर पर ले जाया गया और मार दिया गया। उनकी गर्दनें काट दीं गईं और कुछ को गोलियाँ भी मारी गईं। 35 लोग खून बहने से मारे गए और सात और घायल हुए और बाकी के किसी तरह से बच निकले। हत्यारों ने कई झोपड़ियों में आग भी लगा दी।

लगभग नरसंहार के समय पर ही टेकारी पुलिस स्टेशन से एस.आई. विजय प्रताप के नेतृत्व में एक पुलिस दल वहाँ आया और गाँव के चौकीदारों, दुःखी महिलाओं और मारे गए और घायल हुए लोगों के परिवार वालों से मिला। यह पुलिस दल गाँव में नहीं घुसा और तब तक इंतज़ार करता रहा जब तक कि गया के एस.पी. के साथ एक बड़ा दल रात को करीब 1 बजे तक वहाँ नहीं पहुँच गया। यह दल हत्याकांड के एक गवाह श्रवण कुमार से मिला जिसके हाथ पीछे बंधे हुए थे। इस समय तक गया के आई.जी.पी. और अन्य अधिकारियों को भी सूचित किया जा चुका था और पुलिस का दल गाँव पहुँच गया था। घायलों को इलाज के लिए अस्पताल ले जाया गया और एक गवाह सत्येंद्र शर्मा का पहला बयान रिकॉर्ड किया गया। यह फ़र्द–बयान (पुलिस द्वारा दर्ज़ बयान), 12–13 फरवरी 1992 की रात में 3 बजे टेकारी थाने में दर्ज़ की गई प्रथम सूचना रिपोर्ट (एफ.आई.आर.) का आधार बना। यह एफ.आई.आर. 34 लोगों, जिन्हें सूचना देने वाले व्यक्ति सत्येन्द्र शर्मा ने पहचाना था और सैंकड़ों और 'अनजाने' लोगों के खिलाफ थी। पुलिस द्वारा टैररिस्ट एंड डिस्रपटिव एक्टिविटीज़ (प्रिवेंशन) ऐक्ट (टाडा) की धारा 3, 4 और 5 और भारतीय दंड संहिता (आई.पी.सी.) की कई धाराएं जैसे 147, 148, 302, 307, 326, 436, 452 और 342 लगाई गईं।

बारा मामला दो दशकों से ज़्यादा तक टाडा नामांकित (डेज़िगनेटिड) न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय में चलता रहा। फरवरी 1993 में 119 लोगों के खिलाफ एक आरोप पत्र (चार्ज शीट) दाखिल किया गया। इनमें से 13 के खिलाफ मुकदमा चला क्योंकि बाकी को फरार घोषित कर दिया गया। अभियोजन पक्ष के 34 गवाहों की जाँच हुई और टाडा कोर्ट ने घटना के 9 साल बाद 8 जून 2001 को अपना फैसला दिया। कोर्ट ने चार अभियुक्तों को बरी कर दिया,

एक को दस साल के कठोर कारवास, चार को कठोर उम्र कैद और चार को फांसी की सज़ा सुनाई।

पुलिस ने टाडा कोर्ट के सामने 15 अप्रैल 2004 को यानी घटना के 12 साल बाद छः अन्य लोगों के खिलाफ एक और चार्ज शीट दाखिल की। कोर्ट ने 11 फरवरी 2009 को अपना फैसला सुनाया गया जिसमें इनमें से तीन को बरी कर दिया और तीन को फांसी की सज़ा सुनाई गई।

छोटे में कहें तो 17 सालों में 19 अभियुक्तों के खिलाफ दो चार्ज शीट दाखिल की गईं, जिनमें से टाडा कोर्ट द्वारा 7 बरी किये गए, बाकी के 12 में से 7 को फांसी की सज़ा, 4 को उम्र कैद और एक को 10 साल के कारावास की सज़ा दी गई।

टाडा के तहत उच्च न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती थी, इसलिए फांसी की सज़ा की पुष्टि के लिए मामला सर्वोच्च न्यायालय पहुँचा। ग्यारह अभियुक्तों ने भी अपने को गुनहगार घोषित किए जाने के खिलाफ 5 अपील सर्वोच्च न्यायालय में दाखिल कीं। अभियुक्त रविन्दर सिंह ने कोई याचिका दायर नहीं की क्योंकि वे पहले ही 10 साल की कैद की सज़ा काट चुके थे। दो अलग अलग पीठों ने इन याचिकाओं को सुना और तीन फैसले दिए।

D;k vfHk;qDrksa dh lquokbZ fu"i{k Fkh\

क्योंकि 20 साल चले लंबे मुकदमों में 4 लोगों को फांसी की सज़ा सुनवाई गई थी, इसलिए यह ज़रूरी है कि इस बात की जाँच की जाए कि क्या अभियुक्तों को निष्पक्ष सुनवाई का मौका मिला था। जस्टिस पसायत और अग्रवाल के बहुमत फैसले और जस्टिस शाह के असहमत फैसले, इसी पीठ द्वारा दिए गए दूसरे फैसले और उसके बाद जस्टिस पटनायक और गोखले के फैसले को ध्यान से देखने पर तहकीकात की गड़बड़ियों और मुकदमे के दौरान हुई कमियों के संबंध में नीचे दिए गए बिंदू उभर कर आते हैं।

1. lqpuk nuq oky dk ijh{k.k u gqvk % सत्येन्द्र शर्मा का फ़र्द–बयान 12–13 फरवरी की रात को टेकारी थाने में दर्ज़ की गई एफ.आई.आर. का आधार बना था। शर्मा ने जानकारी दी थी कि किस तरह से भीड़ गाँव में घुसी थी, उसने लोगों को गोलियों और डायनामाइट से डराया था, कैसे उससे सवर्ण लिबरेशन फ्रंट के दो कमांडरों को सौंप देने को कहा गया था, जो कि कथित रूप से गाँव में छिपे थे, कैसे अन्य भूमिहार पुरुषों के साथ उसे गाँव के पूर्वी छोर पर ले जाया गया था और उस नहर तक चलाया गया था, जहाँ हत्याकांड किया गया और किस तरह से वह बच कर भाग पाया। सबसे महत्वपूर्ण उसने 34 अभियुक्तों को पहचाना भी था।

   रिकॉर्ड दिखाते हैं कि शर्मा को कभी भी कोर्ट में पेश नहीं किया गया और उसका परीक्षण नहीं हुआ। इस मामले में जानकारी देने वाले के महत्व को देखते हुए कहा जा सकता है कि यह और कुछ नहीं तो कम से कम एक बहुत ही अजीबोगरीब चूक है। बचाव पक्ष के वकील के अनुसार शर्मा सवर्ण लिबरेशन फ्रंट का सदस्य था, बाद में रणवीर सेना में चला गया था और सेना द्वारा मियांपुर और अन्य हत्याकांड किए जाने के बाद से फरार था। पर क्योंकि शर्मा को कभी निचली (विचारण) अदालत (यहाँ टाडा कोर्ट) के सामने प्रस्तुत ही नहीं किया गया, इन दावों की पुष्टि करना संभव नहीं है। बचाव पक्ष के वकील ने तर्क दिया कि जस्टिस शाह ने अपने फैसले में कहा है कि यह चूक एक मौलिक सबूत के रूप में एफ.आई. आर. की वैधता को कमज़ोर करती है।

2. tkp vfèkdkjh] bLi;DVj jke tfir dqekj dk ijh{k.k u gqvk % इस हत्याकांड की तहकीकात भ्रमों और गड़बड़ियों से भरी पड़ी है। ऐसा लगता है कि सबसे पहले तहकीकात की ज़िम्मेदारी गया के एस.पी. द्वारा मौखिक रूप से टेकारी थाने के राम जपित कुमार को सौंपी गई थी। परन्तु कुछ दिन बाद 17 फरवरी 1992 को केस इंस्पैक्टर सुरेश चंद्र शर्मा को सौंप दिया गया। इस बदलाव का कारण कुछ संदेहास्पद है। इसके लिए कारण यह दिया गया कि कुमार तहकीकात के लिए उपलब्ध नहीं थे और टेकारी की पुलिस गिरफ्तारियों और घटना के बाद गाँव में बड़ी संख्या में पहुँच रहे वी.आई. पी. लोगों को संभालने में व्यस्त थी। अभियोजन पक्ष का दावा है कि कुमार तो कभी तहकीकात में शामिल ही नहीं थे और प्रारंभिक जाँच पड़ताल तो इंस्पैक्टर विजय प्रताप ने की थी। परन्तु जिरह (क्रॉस एक्ज़ामिनेशन) के दौरान इंस्पैक्टर एस.सी. शर्मा ने एक विरोधाभासी टिप्पणी करते हुए यह घोषित किया कि उनके केस में आने से पहले पूरी तहकीकात कुमार ने की थी और उन्होंने साथ में यह भी कहा कि उन्हें विजय प्रताप से चार्ज मिला था।

   राम जपित कुमार से संबंधित गड़बड़ी कभी सुलझाई नहीं

rkfydk 2	lokPp U;k;ky dh dgkuh		
QSly dh rkjh[k vkj gkykr	ihB	vihy djus okyr	urhtk
15 अप्रैल 2002 कृष्णा मोची और अदर्स बनाम बिहार सरकार	बी.एन. अग्रवाल, ए. पसायत और एम. बी. शाह	नन्हे लाल मोची, कृष्णा मोची, वीर कुअर पासवान, धर्मेन्द्र सिंह	बहुमत फैसले ने सभी चार की फांसी की सज़ा बरकरार रखी। जस्टिस शाह के असहमत फैसले ने धर्मेन्द्र सिंह को बरी किया था और बाकियों की सज़ा को आजीवन कारावास में बदल दिया था।
15 अप्रैल 2002 बहारी मांझी और अदर्स बनाम बिहार सरकार	बी.एन. अग्रवाल, ए. पसायत और एम.बी. शाह	बिहारी मांझी, रामावतार दुसाढ़, राजेन्द्र पासवान, वकील यादव	चारों की उम्र कैद को रद्द कर दिया गया और उन्हें सभी आरोपों से बरी कर दिया गया।
20 सितम्बर 2013 व्यास राम @ व्यास कहार और अदर्स बनाम बिहार सरकार	ए.के. पटनायक, एच. एल. गोखले	व्यास कहार, नरेश पासवान, बुगुल मोची	एक को बरी किया गया और अन्य दो की फांसी की सज़ा को उम्र कैद में बदला गया।
पूरा नतीजा – 4 को फांसी की सज़ा, 2 को उम्र कैद की सज़ा और पाँच बरी किए गए।			

गई क्योंकि उन्हें कभी कोर्ट में पेश ही नहीं किया गया। उनकी केस डायरी और तहकीकात के विवरण भी कभी रिकॉर्ड पर नहीं लाए गए। कुमार को क्योंकि मुकदमे से पूरी तरह से बाहर रखा गया इसलिए यह शक बरकरार रहता है कि उनके हटाए जाने का संबंध उनके 'जाँच परिणाम' से था न कि उनके 'उपलब्ध' न होने से।

3. tkp vfèkdkfj;k d;k c;kuk e; xMcfM;k %& किसी भी तरह की संतुष्ट करने वाली सफाई के अभाव में और आरंभिक जाँच किसने की इसके संबंध में विरोधाभासी बयानों के मद्देनज़र, टेकारी थाने के इनचार्ज विजय प्रताप की भूमिका संधिग्ध हो जाती है। वह पहले पुलिस गश्ती दल में थे, फिर भी उन्होंने गाँव के उन तीन चौकीदारों के बयान दर्ज़ नहीं किए जिन्होंने गाँव में हुए हत्याकांड के बारे में प्रत्यक्ष जानकारी दी थी। उनके अनुसार उन्होंनेएस.पी. सुरेन्द्र कुमार सिंह को इसकी जानकारी दी थी। परन्तु जब विजय प्रताप वापस आए और श्रवण कुमार से मिले जिन्होंने उन्हें हत्याकांड के बारे में बताया तो उन्होंने उनका फ़र्द–बयान रिकॉर्ड नहीं किया। उन्होंने भूमिहारों के अलावा अन्य गाँव वालों, महिलाओं और बच्चों के भी बयान रिकॉर्ड नहीं किए जिन्हें हमलावरों ने छोड़ दिया था। गाँव में छः ब्राहमण परिवार, दो दलित और दो यादव और तेली परिवार थे।

जिरह के दौरान विजय प्रताप ने स्वीकारा कि उन्होंने किसी भी संदिग्ध की परीक्षा पहचान परेड (टैस्ट आइडैंटिफिकेशन परेड, टी.आई.पी.) नहीं की थी। उन्होंने गवाहों के बयान लिए जाने के समय या स्थान भी रिकॉर्ड नहीं किए थे। अन्य महत्वपूर्ण बात यह है कि जाँचकर्ता के रूप में उनकी भूमिका का महत्व इसलिए भी कम हो जाता है क्योंकि उन्हें जाँच करने के लिए कोई लिखित आदेश नहीं मिला था। आरंभिक जाँच किसने की यह अंर्तविरोध और भी महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि 2013 के फैसले में सर्वोच्च न्यायालय ने विजय प्रताप और इंस्पैक्टर एस.सी. शर्मा, जिन्होंने 17 फरवरी 1992 को जाँच का काम संभाला था, के बयानों में अंर्तविरोध दर्ज़ किए थे।

4. VkMk yxkus e; çfØ;kRed xMcfM;k %& सर्वोच्च न्यायालय ने टाडा लगाए जाने के संबंध में गड़बड़ियाँ भी दर्ज़ कीं। जिरह के समय इंस्पैक्टर एस.सी. शर्मा यह नहीं बता पाए कि टाडा लगाने के लिए लिखित इज़ाजत ली गई थी या नहीं और यह भी कि जाँच का काम डी. एस.पी. के अलावा कोई और अधिकारी कर सकता था या नहीं।

5. fcgkjh ek>h dk bdcdkfy;k c;ku %& टाडा लगाने से एक खास प्रावधान उपलब्ध हो गया जो कि पुलिस का बहुत पसंदीदा प्रावधान था – पुलिस के समक्ष अभियुक्तों

के गुनाह कबूलने को साक्ष्य माना जाना। टाडा के दौर में इस प्रावधान का इस हद तक गलत इस्तेमाल हुआ था कि बाद में आए किसी भी आंतकवाद विरोधी कानून में इसे शामिल करने के बारे में सोचा तक नहीं गया। पर इस मामले में जिसमें वैसे मुकदमा टाडा कानून के रद्द होने के बाद चला था, अंतिम परिणाम के लिए यह बेहूदा प्रावधान इस्तेमाल हुआ।

टेकारी थाने में दर्ज़ एफ.आई.आर. में जिन 34 लोगों का नाम था उनमें बिहारी मांझी नहीं थे। उन्हें दो हफ्तों बाद गाफ़ा गाँव से इंस्पैक्टर शर्मा द्वारा गया के एस.पी. सुनील कुमार और बोध गया के स्टेशन इंन चार्ज वीरेन्द्र कुमार सिंह की उपस्थिति में गिरफ्तार किया गया। जिरह के दौरान सुनील कुमार ने कहा कि उन्होंने मांझी से कहा था कि वे अपना बयान बिना किसी डर और पक्षपात के दें। परन्तु टाडा के नियम के विरुद्ध उनका इकबालिया बयान उन्होंने नहीं बल्कि इंस्पैक्टर शर्मा द्वारा रात को पुलिस जीप की लाईट में रिकॉर्ड किया गया था। बयान दस पृष्ठों का था पर मांझी के हस्ताक्षर केवल पाँच पर ही हैं। बयान कभी भी चीफ़ जूडिशियल मजिस्ट्रेट के सामने पेश नहीं किया गया। बल्कि पाँच साल बाद गया के एस.पी. के सत्यापन के बिना सीधे टाडा कोर्ट को भेज दिया गया। कोर्ट में मांझी को न तो इंस्पैक्टर पहचान पाए और न ही एस.पी.। इन ज़ाहिर गड़बड़ियों और चूकों के बावजूद माझी का यह इकबालिया टाडा कोर्ट द्वारा उन्हें और तीन और (रामोवतार दुसाढ़, राजेन्द्र पासवान और वकील यादव) को दोषी साबित करके उम्र कैद की सज़ा देने का आधार बना।

जब मामला सर्वोच्च न्यायालय के सामने आया तो कोर्ट ने कहा कि इकबालिया बयान टाडा की धारा 15 और रूल 15 के अनुसार नहीं हुआ है और कोर्ट ने चारों अभियुक्तों को बरी कर दिया। 2013 के बाद के फैसले में कोर्ट ने यह भी नोट किया कि वीरेन्द्र कुमार सिंह, मांझी के सह आरोपी वकील यादव के भतीजे की हत्या के मामले में एक अभियुक्त थे और उन्होंने सर्वोच्च न्यायालय में अपने खिलाफ संज्ञान लिए जाने को निरस्त्र करने के लिए याचिका भी दर्ज़ की थी।

2002 की तीन सदस्यीय पीठ ने, जिसने माझी और तीन अन्य को बरी किया था, तहकीकात के संदर्भ में यह टिप्पणी दी थी – 'ऐसा लगता है कि अपराध से इन अभियुक्तों का कोई संबंध दिखाने के लिए कोई भी चीज़ या सबूत इकट्ठा करने की जगह जाँच एजेंसी ने अनुचित तरीकों का इस्तेमाल किया है'। परन्तु यही गलत तरीकों से की गई जाँच चार अन्य को फांसी की सज़ा दिए जाने और सर्वोच्च न्यायालय की इसी पीठ के तीन में से दो के बहुमत फैसले द्वारा उसे जारी रखने का आधार बनी।

6. xokgksa dh vfo'oluh;rk % मुकदमे में 16 गवाहों का परीक्षण हुआ, जिनमें से ज़्यादातर बारा के ही थे और इन्हीं के बयानों के आधार पर चार लोगों, नन्हे लाल मोची, कृष्णा मोची, वीर कुअर पासवान और धर्मेन्द्र सिंह को फांसी की सज़ा दी गई। जब मामला सर्वोच्च न्यायालय पहुँचा तो जस्टिस अग्रवाल ने आठ गवाहों के आँखों देखे विवरणों को सही मानते हुए अपना निर्णय दिया क्योंकि अन्य गवाह अभियुक्तों को कोर्ट में पहचानने में असमर्थ रहे थे। जहाँ जस्टिस अग्रवाल को इन विवरणों पर थोड़ा सा भी संदेह नहीं था, जस्टिस शाह का मानना कुछ और था। जस्टिस शाह ने कहा, 'बिना किसी संदेह के यह कहा जा सकता है कि सभी गवाहों ने अभियुक्तों के तौर पर लोगों के नाम लिए जाने में अतिश्योक्ति की है जबकि वे केवल एक दो को ही पहचान पाए थे। इससे साफ ज़ाहिर होता है कि गवाह बहुत से लोगों का नाम अभियुक्तों के तौर पर ले रहे हैं जिन्हें वे जानते ही नहीं हैं या जिन्हें उन्होंने घटना के समय नहीं देखा है। इस तरह के हालातों में उनके बयान संदिग्ध और/या सिखाए हुए लगते हैं।

जस्टिस शाह ने जो मुख्य सरोकार व्यक्त किया वह यह था कि गवाहों ने किसी भी अभियुक्त को किसी भी विशिष्ट कार्यकलाप से नहीं जोड़ा सिवाय इसके कि वह उपद्रवी भीड़ में उपस्थित था। इस बयान से यह भी साबित नहीं होता कि पहचाने गये अभियुक्तों के पास हथियार थे। अभियुक्तों के पास से कोई भी हथियार या अन्य सबूत नहीं बरामद हुए हैं। गवाहों के बयानों को रिकॉर्ड किए जाने में हुई देरी और टी.आई.पी. न करवाए जाने से भी अपीलकर्ताओं की पहचान के संबंध में शक होता है। कुछ गवाहों ने जिन अभियुक्तों के नाम लिए, उनके साथ उनके स्थानीय झगड़े थे। आठ विश्वसनीय गवाहों के बयानों से हद से हद यह पता चलता है कि अभियुक्त अपराध की जगह पर उपस्थित थे।

p'enhn xokg fdrus fo'oluh; Fk\

अगर बारा हत्याकांड की तहकीकात पर पक्षपातपूर्ण होने और तोड़ मरोड़ कर किए जाने का आरोप न भी लगाया जाए तो भी यह कहना तो बिलकुल ही गलत नहीं है कि यह तहकीकात लापरवाही से भरी थी। चार अभियुक्तों का मामला न्यायालय में चश्मदीद गवाहों के परीक्षण पर टिका था। यह परीक्षण यह साबित करने के लिए महत्वपूर्ण था कि ये चार अभियुक्त एम.सी.सी. के थे और भूमिहार लोगों को निशाना बना कर मारने और उन्हें आतंकित करने के लिए इकट्ठा हुई भीड़ में शामिल थे। विडंबना यह है कि इन गवाहों के बयान, जो कि जस्टिस शाह के अनुसार बेहद कमज़ोर थे, बहुमत के फैसले में चारों को दोषी ठहराने और उनकी फांसी की सज़ा पर मोहर लगाने का आधार बने। फांसी की सज़ा को कायम रखने के लिए जस्टिस अग्रवाल ने जो तर्क रखे उसका सार यह था आठ गवाहों ने यह साबित कर दिया है कि अपीलकर्ता हत्याकांड करने के 'साझा इरादे' से वहाँ इकट्ठा हुए थे। उनकी निगाह में सिर्फ इतना प्रमाण न केवल उन्हें दोषी ठहराने के लिए बल्कि फांसी की सज़ा देने के लिए भी काफी था – उन्हें सीधे किसी भी हत्या से नहीं जोड़ा जा सका तो भी। दूसरी ओर आठ गवाहों के बयानों को ध्यान से परखने से कुछ और ही निकल कर आता है।

गवाह योगेन्द्र सिंह, जो कि घायल हुए लोगों में से थे और 24 दिन अस्पताल में रहे थे, का बयान त्रुटिहीन माना गया जबकि यह भी साफ नहीं है कि उनका बयान कब लिया गया। बहुमत के फैसले ने इस निवेदन को अस्वीकार कर दिया कि उनका बयान 24 दिन बाद रिकॉर्ड किया गया था। ऐसा इस आधार पर किया गया कि 'इस दावे को साबित करने के लिए कोई ठोस प्रमाण नहीं है और गवाह और किसी और ने कहीं भी यह नहीं कहा है कि पुलिस ने उनका बयान 24 दिन बाद लिया था'। परन्तु उनके फैसले में उन्हें इस बात से कोई समस्या नहीं थी कि यह साबित करने के लिए भी कोई सबूत मौजूद नहीं था कि बयान पहले लिया गया था। योगेन्द्र सिंह ने कोर्ट में 13 लोगों पर आरोप लगाया था, पर वे केवल दो अभियुक्तों – कृष्णा मोची और नन्हे लाल मोची को पहचान सके। और इनमें से एक कृष्णा मोची का नाम उनके बयान के पहले हिस्से में नहीं था व नन्हे लाल मोची का नाम उन्होंने सिर्फ घटनास्थल पर उपस्थित लोगों के रूप में लिया था।

दूसरे (घायल) गवाह लवलेश सिंह ने अपने बयान में ग्यारह से ज़्यादा लोगों का नाम लिया था, पर वे केवल एक को पहचान सके – वीर कुअर पासवान को। जिरह के दौरान उन्होंने कहा कि जब अभियुक्त उनके घर में घुसे तो वे बेहोश हो गए और फिर उन्हें अस्पताल में होश आया। अगर यह वास्तव में सही है तो घटनाक्रम का उनका विवरण जायज सबूत नहीं माना जा सकता। इसके बावजूद जस्टिस अग्रवाल ने उनके बयान को इस आधार पर जायज माना कि, 'गवाह भौच्चका रह गया था और वह अस्पताल पहुँच कर ठीक हो गया था'। लवलेश सिंह 22 दिन अस्पताल में रहे और बचाव पक्ष के वकील ने कहा कि उनका बयान 24 दिन के बाद लिया गया था। जस्टिस अग्रवाल ने इस देरी के संबंध में बचाव पक्ष के निवेदन को अस्वीकार कर दिया क्योंकि, 'इस गवाह ने कहीं भी यह नहीं कहा है कि उनका बयान 22 दिनों के बाद लिया गया था और ऐसा साबित करने के लिए कोई प्रमाण भी नहीं है। परन्तु एक बार फिर ऐसा लगता है कि यह साबित करने के लिए भी कोई प्रमाण नहीं था कि बयान घटना के तुरंत बाद लिया गया था। पर इससे न्यायाधीशों को कोई फर्क नहीं पड़ा। यह ध्यान में रखना ज़रूरी है कि बयान रिकॉर्ड करने में देरी तहकीकात की गंभीर कमी मानी जाती है क्योंकि ऐसा होने पर गवाह को या तो सिखाया पढ़ाया जा सकता है या वह खुद तरोड़ मरोड़ कर मनमाना बयान दे सकता है।

एक और गवाह धन्नजय सिंह ने, जिन्हें भी हादसे में चोटें लगीं थीं, चार में से दो अपीलकर्ताओं को गलत पहचाना। और यह भी महत्वपूर्ण है कि बाकी के दो अपीलकर्ताओं, कृष्णा मोची और नन्हे लाल मोची से, जिन्हें उन्होंने ठीक पहचाना था उनका अपना झगड़ा था। इन दोनों का नाम उन्होंने पुलिस को दिए गए अपने बयान में नहीं लिया था। परन्तु कोर्ट में उन्होंने यह दावा किया कि उन्होंने पुलिस को ये दोनों नाम दिए थे। इतने विरोधाभासी प्रमाण में भी कोई कमी नहीं मानी गई।

बुंदे सिंह, जिन्हें कोई चोट नहीं लगी थी, का बयान घटना के दो दिन बाद लिया गया। इसे असामान्य देरी नहीं माना गया। उन्होंने 13 अभियुक्तों के नाम लिए और एक अपीलकर्ता नन्हे लाल मोची को गलत पहचाना।

राम सागर सिंह की गवाही को भी बिना किसी शक के स्वीकार कर लिया गया और इस तथ्य को खारिज कर दिया

गया कि उनका दो अभियुक्तों, नन्हे लाल मोची और कृष्णा मोची के साथ पुराना लंबा झगड़ा था। उनके अनुसार वे छत पर छिपे हुए थे। उन्होंने अभियुक्तों को गली में से निकलते हुए देखा और वे आग की रोशनी में छत पर से अभियुक्तों को पहचान पाए।

चश्मदीद गवाह राम सुमिरन शर्मा ने अपनी जिरह के दौरान दावा किया कि वे उन अपीलकर्ता को नहीं जानते थे जिनकी ज़मीन उनकी अपनी ज़मीन से केवल आधा किलोमीटर की दूरी पर थी। उन्होंने इस बात से भी इनकार कर दिया कि ज़मीन के एक लंबित मामले के कारण उनके और अपीलकर्ता के बीच शत्रुता थी। जिन 12 अभियुक्तों के नाम उन्होंने अपने बयान में दिए थे, वे उनमें से केवल तीन को पहचान सके। पर जस्टिस अग्रवाल की राय में राम सुमिरन, 'अभियोजन के लिए एक पुख्ता गवाह है' जो, 'जिरह की पूरी आजमाइश पर खरा उतरा और उसकी गवाही में कुछ भी संदेहास्पद नहीं है क्योंकि वह सहज गवाह है और उसने लगातार इस अपीलकर्ता के गुनाह में शामिल होने की बात पूरे सामग्री ब्यौरे के साथ कही है'।

गवाह बुधन सिंह ने आग की रोशनी में दो अभियुक्तों को पहचानने का दावा किया। उनका बयान पुलिस ने घटना के तीन दिन बाद लिया था। इसी तरह से एक और गवाह कृष्णा देवी, जिन्होंने हत्याकांड होते हुए देखने की गवाही दी थी, का बयान घटना के दो दिन बाद रिकॉर्ड किया गया। गवाहों के बयान रिकॉर्ड करने में देरी का कारण दिया गया, 'वे बयान देने की स्थिति में नहीं थे क्योंकि वे अपने परिवार के मारे गए सदस्यों के अंतिम संस्कार के कार्यलापों में व्यस्त थे और बयान देने की मानसिक हालत में नहीं थे। गवाहों ने यह भी कहा कि विभिन्न राजनीतिक दलों के नेता वहाँ आ रहे थे और इसके परिणास्वरूप कानून और व्यवस्था की स्थिति बहुत जटिल हो गई थी'।

जिन मामलों में एक बड़े समूह द्वारा हिंसा को अंजाम दिया जाता है उनके लिए 'मसालती बनाम उत्तर प्रदेश राज्य 1964' फैसले में एक अहम मानक स्थापित किया गया है – इसके अनुसार अभियुक्तों के अपराध में शामिल होने और भाग लेने की पुष्टि के लिए कम से कम दो भरोसेमंद गवाहों के विश्वसनीय और सुसंगत वर्णन का होना ज़रूरी माना गया है। बहुमत का फैसला इस मानक पर विचार तो करता है पर फिर भी इकलौते गवाह (राम सुमिरन शर्मा) के बयान की गुणवत्ता से इतना प्रभावित है कि वह इस गवाह के अकेले बयान के आधार पर धर्मेंद्र सिंह की फांसी की सज़ा को कायम रखता है।

इस तरह से एक गवाह की गवाही को स्वीकारने में तुलनात्मक रूप से उदार मानकों को अपनाया गया। रिपोर्ट में बाद में देखा जा सकता है कि इसके एकदम विपरीत जिन घटनाओं में रणवीर सेना ने हत्याएं की थीं, उनमें गवाहों के बयानों को प्रमाणों के रूप में स्वीकारने के लिए जिस तरह के मानक अपनाए गए वे कहीं ज़्यादा कड़े थे।

भागलपुर जेल में कैद बारा मामले के चार दोषी जिन्हें मौत की सज़ा सुनाई गई उसी समय से ही एकांत कारावास में बंद हैं। फरवरी–मार्च 2015 में पी.यू.डी.आर. की टीम इन चारों से जेल में और इनके कुछ परिवारजनों से बात कर पाई। निम्नलिखित इसी बातचीत के आधार पर बना है।

uUg yky ekph

नन्हे लाल मोची बारा मामले के उम्र में सबसे बड़े कैदी हैं और उन्हें अपनी उम्र का ठीक ठीक अंदाज़ा नहीं है। उनका कहना है कि उनकी उम्र 75 से 80 के बीच है। वे बारा गाँव के पास स्थित मीराबीघा के निवासी थे। वहाँ चमारों के करीब 10–15 घर थे। ये परिवार बारा गाँव के खेतों में काम करते थे जहाँ भूमिहार परिवारों में से ज़्यादातर के पास 10–15 बीघा ज़मीन और कुछ एक के पास 20–30 बीघा ज़मीन थी। नन्हे अपने मालिक जमुना सिंह भूमिहार की ज़मीन पर हरवाहा की तरह काम करते थे। जमुना सिंह के पास करीब 20 बीघा ज़मीन थी। नन्हें लाल मोची की दैनिक मज़दूरी 2 किलो धान, आधा किलो सत्तू और एक समय का खाना थी। उनके पास अपना घर बनाने लायक ज़ीमन भी नहीं थी और उनका घर गैर मज़रुआ ज़मीन पर स्थित था। उनके पिता भी इन्हीं ज़मींदार के पास हरवाही करते थे। मालिक मज़दूरों को लगातार धमकाते रहते थे। बारा हत्याकांड के समय नन्हे लाल के पाँच बच्चों की उम्र 4 से 20 साल के बीच थी और वे घर के इकलौते कमाऊ सदस्य थे। एम.सी.सी. क्षेत्र में सक्रिय थी। पार्टी के लोग आते थे और मीटिंग करके चले जाते थे। मीटिंग चमारटोला में होतीं थीं पर केवल कुछ ही लोग पार्टी की मीटिंग भाग लेते थे। बारा के हत्याकांड में उनके मालिक के घर से न तो कोई मारा गया था और न घायल हुआ था। नन्हे लाल को सुबह तक भी हत्याकांड के बारे में नहीं पता था। बारा के एक ज़मींदार अवध सिंह ने अपने घर मारे गए मवेशी को दफनाने में मदद करने के लिए नन्हे लाल को बुलाया। पर वे नहीं गए। क्षेत्र में क्योंकि डर का वातावरण था इसलिए वे भाग कर अपनी माँ की तरफ के एक रिश्तेदार के यहाँ चले गए और फिर उन्होंने कई जगहों पर काम किया। अंततः वे पंचनपुर के पास शुक्ला नगर में बस गए और उन्होंने वहाँ हरवाहा के रूप में काम करना शुरू कर दिया। वहाँ उन्होंने लगभग 4–5 साल काम किया। इस समय में उन्हें घर बनाने के लिए 5 कट्ठा ज़मीन दी गई थी और रोज़ की मज़दूरी के रूप में 2 किलो धान मिलता था। उनकी अनुपस्थिति में उनके घर की चल संपत्ति की कुर्की जब्ती हो गई और घर तोड़ दिया गया और जला दिया गया। 1998 में वापस गाँव आने पर उन्हें उनके बेटे और भतीजे के साथ गिरफ्तार कर लिया गया। भतीजे को मार पिटाई के बाद छोड़ दिया गया। पुलिस हिरासत में नन्हे लाल की भी पिटाई की गई और उन्हें यातनाएं दी गईं। उन्हें अपने वकील के बारे में कोई जानकारी नहीं है और वे कभी उनसे नहीं मिले हैं। उन्हें यह भी नहीं पता कि उनके खिलाफ कौन से आरोप लगे हैं। जब तक वे गया जेल में थे, उनका बेटा उनसे नियमित रूप से मिलने की कोशिश करता था, जिसके लिए उसे हर बार जेल के अधिकारियों को 30–40 रुपये देने पड़ते थे। कभी कभी उनकी पत्नी और बेटी भी उनसे मिलने आतीं थीं। जबसे उन्हें भागलपुर जेल भेज दिया गया है उनके परिवार के लोगों का उनसे मिलने आना बहुत कम हो गया है, आमतौर पर साल में एक बार। नन्हे को कभी पैरोल पर छुट्टी नहीं मिली है। जब उनकी पत्नी की मृत्यु हुई उस समय भी प्रशासनिक लाल फीताशाही की वजह से हुई देरी के कारण वे पैरोल का इस्तेमाल नहीं कर पाए। वे कहते हैं, 'मैने अपनी ज़िंदगी में झगड़ा नहीं किया, मार पीट नहीं की और यहाँ तक की गाली गलोज भी नहीं की'। नन्हे लाल 18 सालों से जेल में हैं और फांसी की सज़ा के पक्के होने के बाद से एकान्त कारावास में रह रहे हैं। उनके अकेले के कमरे के दोनों तरफ घेलाओ है जहाँ वे दिन के समय घूम फिर सकते हैं। उन्हें अन्य कैदियों से मिलने की इज़ाजत नहीं है। वे सुबह 6 बजे उठ जाते हैं, नाश्ते के लिए उन्हें चना–चीनी मिलता है, दिन में दो बार चाय और दो बार खाना मिलता है जिसमें रोटी सब्ज़ी और दाल होती है। उन्हें तम्बाकू की आदत है इसलिए वे अपनी चीनी बचा कर रखते हैं और उसे 30 रुपये किलो के हिसाब से बेच कर तम्बाकू हासिल करते हैं। उन्हें कमज़ोरी लगती है और सांस की परेशानी है, पर उनका कहना है कि ये सब बुढ़ापे की वजह से है। उन्हें गैस, खाँसी और जुकाम के लिए दवाई मिलती है। उन्हें उस दया याचिका की याद है जो चारों दंडित लोगों ने साथ साथ भेजी थी, पर उन्हें कुछ भी नहीं पता कि उसका क्या हुआ। उनकी एक ही विनती है कि उन्हें गया भेज दिया जाए ताकि उनका परिवार उनसे ज़्यादा जल्दी जल्दी मिल सके। उनका अपने नाती पोतों को देखने का मन करता है। उन्हें

दुःख लगता है कि वे अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेज पाए। पर उन्हें अभी भी उम्मीद है कि उनके साथ जो अन्याय हुआ है उसे भगवान ठीक कर देगा। उन्हें उम्मीद है कि वे जेल से छूट कर फिर से काम पर जा सकेंगे। वे चाहते हैं कि उनकी मृत्यु उनके बच्चों के बीच हो। उनके बच्चों को भी लगता है कि वे जल्दी ही जेल से छूट जाएंगे।

oh j dqvj ikloku

दमे (ब्रोंकिअल अस्थमा) के मरीज़ 71 साल के पासवान, बारा हत्याकांड मामले में गिरफ्तार होने वाले इन चारों में से पहले व्यक्ति थे। वे 23 साल जेल में बिता चुके हैं। वे खुतबार गाँव के निवासी थे और एक भूमिहार परिवार के लिए हरवाहा कृषि मज़दूर के रूप में काम करते थे। जिस रात को हत्याकांड हुआ उन्होंने गोलियों की आवाज़ें सुनी थीं, पर उन्हें काई अंदाज़ा नहीं था कि क्या हो रहा था। वे कहते हैं कि उन्होंने कुछ नहीं किया और उनका एम.सी.सी. से कोई संपर्क नहीं था। इसलिए उन्हें नहीं लगा कि उन्हें भागने की ज़रूरत है। इसलिए जबकि डर के माहौल के कारण अन्य दलित परिवार गाँव छोड़ कर भाग रहे थे, वे वहीं रहते रहे। कुछ दिनों बाद जब वे परिवार के एक समारोह के लिए एक रिश्तेदार के यहाँ गए तो पुलिस ने उन्हें वहाँ से उठा लिया। उस समय में गाँव में सार्वजनिक वितरण प्रणाली (राशन) के चलते कई एक झगड़े चलते रहते थे। सुमिरन सिंह नाम के एक भूमिहार के पास वितरण के लिए चीनी का कोटा था और कोटा किसी और को दिए के लिए राजनीतिक दबाव चल रहा था। पासवान के हिसाब से जो लोग सुमिरन सिंह के पास से कोटा हटाने के पक्ष में थे उन्हें 'सवर्ण' जाति के लोगों द्वारा हत्याकांड में आरोपी बना कर सज़ा दी गई। पासवान के साथ भी यही हुआ था। उनके अनुसार उनके सहअभियुक्त धमेंन्द्र सिंह, जो कि बारा मामले के सवर्ण जाति के एकमात्र दंडित व्यक्ति हैं, को भी इसी कारण से फंसाया गया था। पुलिस ने पासवान को नहीं बताया कि उन्हें क्यों पकड़ा गया है। उस समय के स्थानीय पुलिस के एक कांस्टेबल ने उनका नाम केस से हटाने के लिए 3,000 रुपये मांगे थे, पासवान के पास इतने पैसे नहीं थे और जल्दी ही हत्याकांड के संबंध में उनके खिलाफ आरोप पत्र दाखिल हो गया। कोर्ट ले जाए जाते समय उन्हें बताया गया कि उन्हें बारा में सवर्ण जाति के लोगों की हत्याओं के संबंध में पकड़ा गया है। उनके खिलाफ एकमात्र सबूत यह है कि उन्हें पुलिस के एक गवाह ने पहचाना था। जब न्यायाधीश ने पुलिस के इस गवाह से उन्हें पहचानने के लिए कहा तो वे पहचाने नहीं जा सके। उनका नाम तीन बार पुकारा गया और तब उन्होंने खुद अपना हाथ खड़ा कर के कह दिया कि वे पासवान हैं। उनका दावा है कि उन्हें इस तरह से 'पहचाना' गया था। उनका कहना है कि उन्होंने कभी भी सवर्णों की तरह की ज़िंदगी बिताने का सपना या अपनी खुद की ज़मीन का सपना नहीं देखा था। वे एक मज़दूर की तरह से काम करते हुए ही खुश थे। वे सिर्फ ये चाहते थे कि उनका बेटा पढ़ पाए और नौकरी पा सके। उनकी कैद से उनका परिवार तबाह हो गया, उनके बेटे को परिवार की ज़िम्मेदारी संभालनी पड़ी और उसकी पढ़ाई छूट गई। उनकी पत्नी की मृत्यु 2014 में हो गई और वे उनके अंतिम संस्कार तक में शामिल नहीं हो सके क्योंकि जब तक प्रशासनिक इज़ाजत मिली तब तक बहुत देर हो चुकी थी। आज उन्हें पता है कि उनकी दया याचिका भेजी जा चुकी है पर उस पर कोई कार्रवाई नहीं हुई है। फिर भी उन्हें उम्मीद है कि अंततः न्याय होगा और उन्हें कुछ राहत मिलेगी।

d"k.kk ekph

63 साल के कृष्णा मोची बारा में दो दशक पहले की अपनी ज़िंदगी को याद करते हैं। वे बारा में एक कृषि मज़दूर की तरह काम करते थे और साथ में गाँव के उत्सवों और त्यौहारों में ढोलक बजा कर थोड़ी बहुत अतिरिक्त आमदनी हासिल कर लेते थे। उनका कहना है कि जिस समय हत्याकांड हुआ वे अपने परिवार के सदस्यों के साथ अपने घर में सो रहे थे। उन्होंने एम.सी.सी. का नाम सुना था और उन्हें मालूम था कि एम.सी.सी. गाँव में मीटिंग करती है, पर वे इस बात से इन्कार करते हैं कि एम.सी.सी. की उनके गाँव में कोई उपस्थिति थी। उनके परिवार को हत्याकांड के बारे में सुबह पता चला और इस डर से कि इसका बदला लेने के लिए और हिंसा होगी, जैसा कि अन्य सवर्ण जातियों की हत्याओं के बाद होता है, उनका परिवार गाँव से भाग निकला। गाँव के अधिकांश दलित परिवारों ने दूर दराज पर रह रहे अपने रिश्तेदारों या जान पहचान के लोगों के यहाँ शरण ले ली थी। कृष्णा मोची दिल्ली आ गए। दिल्ली में

उन्हें नारायणाा में एक जूते के शैल्फ बनाने वाली फैक्टरी में काम मिल गया। करीब छः महीनों तक वे इस फैक्टरी में दैनिक मज़दूरी पर काम करते रहे और इस सारे समय में उनका अपने परिवार से कोई संपर्क नहीं था। उन्हें इस बारे में कोई जानकारी नहीं थी कि उनका नाम हत्याकांड के मामले में आ गया है और पुलिस उन्हें ढूंढ रही है। छः महीने बाद वे गया वापस आए और गया रेलवे स्टेशन पर उन्हें पुलिस ने पकड़ लिया। उनकी कानूनी कवायद तब से शुरू हुई। उन्होंने बताया कि उन्हें इस बारे में कुछ मालूम नहीं था कि उन पर क्या क्या धाराएं लगीं थीं, वे केवल इतना जानते थे कि उस हत्याकांड में उन पर आरोप लगा है और कोर्ट तय करेगा कि वे गुनहगार हैं या नहीं। कोर्ट की सुनवाई नाममात्र की थीं। उनसे कोई सवाल नहीं पूछे गए। उन्हें किसी ने नहीं बताया कि उनके खिलाफ कौन से कानूनों की कौन सी धाराएं लगी हैं। उन्होंने साफ शब्दों में कहा, 'एम.सी.सी. के लोग जंगल से आए थे, उन्होंने लोगों को मारा और और नारे लगाते हुए वापस चले गए और क्योंकि पुलिस उन्हें नहीं पकड़ पाई उसने बेगुनाहों को पकड़ लिया'। कोर्ट की कार्रवाई लगभग 10 साल चलती रही जिसके बाद एक दिन उन्हें सूचित किया गया कि उन्हें फांसी की सज़ा मिली है। उनके अनुसार एक ऐसे अपराध के लिए जिसका उन्हें पता तक नहीं था। उन्होंने कहा कि इन दो दशकों के कारावास के दौरान उन्हें किसी तरह की कोई शारीरिक यातनाएं नहीं सहनी पड़ी हैं परन्तु मानसिक यातनाएं सहना कहीं ज़्यादा मुश्किल है। उनका परिवार साल में एक बार बहुत मुश्किल से पैसा इकट्ठा करके उनसे मिलने जेल आ पाता है। उनका बेटा, जो उसके भागने के समय एक छोटा बच्चा था, आज बारा में भूमिहीन मज़दूर के रूप में काम करता है और उनकी पत्नी गाँव में दाई (मिडवाइफ) की सहयोगी की तरह काम करती हैं। उनकी पत्नी और माँ जिस घर में रहती हैं उसकी दीवारें मिट्टी की बनी हैं और उसकी छत ताड़ के पत्तों से। उन्हें भी पता था कि जेल ने उनकी फांसी की सज़ा को उम्र कैद में बदले जाने की दया याचिका भेजी थी, पर उस पर कोई कार्रवाई नहीं हुई है। उनका कहना था कि वे चाहते हैं कि उनकी फांसी की सज़ा पर रोक लगे परन्तु उसे उम्र कैद में न बदला जाए। अगर फांसी की सज़ा खतम होने का यह मतलब है कि उन्हें बाकी की ज़िंदगी जेल में बितानी पड़ेगी तो वे चाहते हैं कि उन्हें तुरंत फांसी दे दी जाए।

èkeUnz flag mQZ èkh :

धर्मेन्द्र सिंह बारा हत्याकांड में दंडित एकमात्र सवर्ण हैं। वे बारा के कुछ दूर स्थित दीहूरा गाँव के निवासी थे। उनके पिता की बहुत कम उम्र में मृत्यु हो गई थी और मामा उन्हें पाला था। वे सातवीं कक्षा तक दीहूरा के स्कूल में और फिर दसवीं कक्षा तक टेकारी के प्रकाश विद्या मंदिर में पढ़े थे। 1986 में उनकी शादी हुई थी और एक साल के अंतराल के बाद उन्होंने सतेन्द्र सिन्हा कॉलेज में दाखिला लिया था। बारा की घटना के समय धीरू के पास पाँच बीघा ज़मीन थी, जिस पर आम का बाग था। उन्होंने उस साल एक ट्रैक्टर खरीदा था और उसे वे खुद चलाते थे। वे केवल दीहूरा गाँव के खेतों पर काम करते थे। धमेन्द्र के पास दीहूरा बाज़ार के पास सड़क के साथ सटी हुई 7–8 कट्ठा ज़मीन थी। उनका कहना था कि बारा के निवासी इस ज़मीन में से होती हुई सड़क बनवाना चाहते थे। घटना के करीब 6 महीने पहले यह मुद्दा बहुत गर्म हो रहा था और सांसद रामाश्रय सिंह इसे लेकर गाँव भी आए थे। धर्मेन्द्र ने तब उन्हें यह बताया था कि उनका एक और भाई भी इस ज़मीन पर निर्भर था और यह भी कि वह ज़मीन बहुत महंगी थी। धर्मेन्द्र ने कहा था, 'हमें सरकारी नौकरी दिलवाएं नहीं तो हम ये ज़मीन नहीं छोड़ेंगे। हत्याकांड की रात को उन्होंने आवाज़ें सुनी थीं। सुबह उनके मामा दीहूरा बाज़ार गए थे और उन्होंने बताया कि गाँव में सभी लोग मारे गए थे। घटना के बाद गाँव के दफ़ादार ने धर्मेन्द्र को बताया कि उनका नाम आरोपियों की सूची में जोड़ दिया गया है। धर्मेन्द्र 10 किलोमीटर दूर स्थित अपने मामा के घर के लिए निकल पड़े। वहाँ से भारी वाहन चलाना सीखने के लिए वे गिरीधीह (अब बोकारो) के बेरमू शहर चले गए। वे 1999 में अपने छोटे भाई की शादी में घर वापस आए और तब उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। उन्हें अलीपुर थाने ले जाया गया और रात को वहीं रखा गया। उसके बाद उन्हें टेकारी थाने में दो रात रखा गया और फिर गया जेल भेजा गया। पुलिस हिरासत में उन्हें तरह तरह से यातनाएं दी गईं। खूब बल लगा कर उनके पैरों को खींच कर फैलाया गया और पुलिस वाले उनके पैरों पर चढ़ गए। इस शारीरिक यातना से जो स्थाई शारीरिक नुकसान हुआ, उसके कारण उन्हें आज भी दर्द होता है। गया के कोई सरताज बाबू इनके वकील हैं। धर्मेन्द्र को बिल्कुल पता नहीं

है कि वे कैसे गुनहगार साबित हो गए। कुछ समय तक धर्मेन्द्र के ससुर ने उनका केस संभाला। सुमिरन शर्मा, जिनके भाई सरपंच हैं धर्मेन्द्र के पिताजी के भाई उमेश सिंह के दोस्त हैं। असल में इन लोगों ने उनकी ज़मीन हथियाने के लिए उन्हें केस में फंसाने का षडयंत्र रचा था। फांसी की सज़ा दिए जाने के 6 महीने बाद 2001 में उनके भाई मुकेश कुमार अचानक गायब हो गए। उनका आज तक कुछ पता नहीं चला है। जेल में रहने के दौरान धर्मेन्द्र ने किन्हीं भी अधिकारियों को कोई पत्र नहीं लिखा है। उनकी बेटी कभी कभी उन्हें चिट्ठी लिखती है। परिवार के अन्य लोग साल में एक या दो बार उनसे मिलने आते हैं। जेल में 16 साल बिताने के बाद धर्मेन्द्र कहते हैं, 'बेहतर होता कि आपने मुझे शुरू में ही लटका दिया होता। मैं और क्या कह सकता हूँ जबकि मुझे कोई न्याय नहीं मिला है। हमने सोचा था कि अम्बेडकर का संविधान हमें न्याय दिलाएगा। पर उसने भी हमें न्याय नहीं दिलाया'।

3- U;k; dk vyx vyx i\ekuk

cFkkuh Vkyk] y{e.kiqj ckFk] ukxjh ckt+kj vkj fe;kiqj gR;kdkaMk d+ QSlyk

बारा मामले के फैसले में जो बात सबसे अधिक ध्यान देने वाली है वह है टाडा लगाया जाना और सर्वोच्च न्यायालय द्वारा फांसी की सज़ा को बरकरार रखा जाना। हाल के समय में बिहार उच्च न्यायालय ने नरसंहारों के चार और मामलों – बथानी टोला, लक्ष्मणपुर बाथे, नागरी बाज़ार और मियांपुर – में फैसले सुनाए हैं। इन सभी में रणवीर सेना नामक निजी सेना, जो कि सवर्ण लिबरेशन फ्रंट के भंग होने के बाद बनी थी, द्वारा हमला किया गया था। इन सभी में उच्च न्यायालय ने उन सभी आरोपियों को अपर्याप्त सबूतों के आधार पर बरी कर दिया जिन्हें निचली अदालतों ने दोषी ठहराया था। इनमें वे भी शामिल थे जिन्हें फांसी की सज़ा सुनाई गई थी। इन मामलों में सर्वोच्च न्यायालय में सुनवाई नहीं हुई हैं। ऐसे में इन मामलों में सवर्ण जाति के अभियुक्तों के बरी किये जाने का अध्ययन बारा मामले में दोषी ठहराए जाने और फांसी तक की सज़ा दिए जाने के संदर्भ में किया जाना महत्वपूर्ण हो जाता है।

cFkkuh Vkyk d+ ekj+ x, vkj ?kk;y g+,
ykxksa dh detkj fLFkfr

11 जुलाई 1996 को, रणवीर सेना की एक उग्रदवी भीड़ ने बड़की खड़ाऊँ गाँव (भोजपुर जिला) के एक मौहल्ले बथानी टोला को घेर लिया और वहाँ अंधाधुंध गोलीबारी शुरू कर दी, जिससे 21 लोग, जिनमें दो नवजात शिशु शामिल थे, मारे गए। हालांकि पुलिस और अन्य वरिष्ठ अधिकारी कुछ ही समय में वहाँ पहुँच गए थे परन्तु फर्द–बयान अगले दिन सुबह 4.30 पर रिकॉर्ड किया गया। यह जानकारी नहीं है कि एफ.आई.आर. किस समय दर्ज़ की गई परन्तु यह मुख्य न्यायिक दंडाधिकारी (सी.जे.एम.) भोजपुर के सामने तीन दिन बाद 14 जुलाई 1996 को लाई गई। करीब दो साल बाद जनवरी 1998 को 62 अभियुक्तों के खिलाफ आई.पी.सी., आर्मस ऐक्ट और एस.सी. एंड एस.टी. (प्रिवेंशन ऑफ़ एट्रोसिटिज़) ऐक्ट के तहत आरोप तय हुए। पर जब नवम्बर 2000 में मुकदमा शुरू हुआ तब 53 अभियुक्तों के खिलाफ कार्रवाई शुरू हुई क्योंकि कुछ की मृत्यु हो गई थी, कुछ फरार हो गए थे और कुछ के खिलाफ कार्रवाई खतम कर दी गई थी। तेरह गवाहों के बयान हुए और जिनमें से नौ चशमदीद गवाह थे। एक चश्मदीद गवाह की गवाही को अस्वीकार कर दिया गया क्योंकि वह जिरह के लिए उपस्थित नहीं हुआ। बाकी के 8 गवाहों में से केवल दो (राधिका देवी और नईमुद्दीन) की गवाही को सत्र न्यायालय (सैशनस कोर्ट) ने स्वीकार किया। चौदह साल बाद जब 5 मई 2010 को सत्र न्यायालय ने अपने फैसले में 30 अभियुक्तों को बरी कर दिया और 23 को सज़ा सुनाई जिनमें से 3 को फांसी की सज़ा सुनाई। सज़ा और फांसी के खिलाफ उच्च न्यायालय में अपील दर्ज़ की गई। चार दंडित लोगों ने यह दावा करते हुए अपील दर्ज़ की कि घटना के समय वे नाबालिग थे। अप्रैल 2012 में जस्टिस वी.एन.सिन्हा और ए.के. लाल की दो सदस्यीय पीठ ने पटना उच्च न्यायायल के तीन दंडित अपराधियों के (जिनमें से एक को फांसी की सज़ा मिली थी) नाबालिग होने को स्वीकार किया और जिन 23 लोगों को निचली अदालत ने दोषी ठहराया था, उन सभी को बरी कर दिया (हरे राम सिंह और अदर्स बनाम बिहार राज्य 2012)।

उच्च न्यायालय ने निचली अदालत के दोषी ठहराए जाने के फैसले को इस आधार पर पलट दिया कि उन्हें

अभियोजन पक्ष की कहानी पर भरोसा नहीं हुआ और उन्हें प्रस्तुत किए गए प्रमाणों में कमियाँ दिखीं। कोर्ट ने फर्द–बयान दर्ज़ किए जाने में 12 घंटों की देरी का हवाला दिया और इस आधार पर कि हत्याकांड के बारे में 11 जुलाई की दोपहर से ही स्पष्ट जानकारी थी, इस देरी को बेहद महत्वपूर्ण माना। कोर्ट ने बड़की खड़ाऊ पिकेट के स्टेशन इन चार्ज की सहर थाने को दी गई लिखित रिपोर्ट, गाँव के चौकीदार के साथ मिल कर सहर के ऑफिस इन चार्ज से मिलने, घायल लोगों के पीरो और आरा के स्वास्थ्य केन्द्रों में उपचार और उसी शाम को घायल चश्मदीद गवाहों के बयान दर्ज़ किए जाने का हवाला दिया। उच्च न्यायालय ने माना कि इन तथ्यों के आधार पर फर्द–बयान दर्ज़ करने में हुई देरी को 'लाज़मी' नहीं माना जा सकता। उच्च न्यायालय ने फर्द–बयान दर्ज़ किए जाने और अपराध के बारे में मौखिक और लिखित जानकारी के उपलब्ध होने के बीच समय का इतना अंतर होने के विरोधाभास पर गौर न करने की अभियोजन पक्ष असफलता को भी नोट किया। कोर्ट ने यह भी ध्यान दिलाया कि अभियोजन पक्ष ने इस विराधोभास को भी कोई महत्व नहीं दिया कि बड़की खड़ाऊ के ऑफीसर इन चार्ज ने बयान दिया था कि हत्याकांड के समय दोनों ओर से गोली बारी हुई थी जबकि पुलिस न तो कोई हथियार बरामद कर पाई और न ही कोई गोली बारूद। कोर्ट ने यह निष्कर्ष निकाला कि अभियोजन पक्ष की कहानी 'सच से कोसों दूर' है और उसने आई.ओ. और गाँव के चौकीदार का परीक्षण न करने के लिए अभियोजन पक्ष को लताड़ा, जिनसे बचाव पक्ष ने जिरह की थी। इसके अलावा पीठ ने इन 'तथ्यों' का भी हवाला दिया कि अभियुक्त ऐसे आराम से गिरफ्तार हो गए जैसे वे 'शांति से इसका इंतज़ार कर रहे हों', कि उन्हें मजिस्ट्रेट के सामने पेश करने में दो दिनों की देरी हुई और कि गवाहों के बयान बहुत बाद में लिए गए। इन सारी बातों को 'जालसाझी' के प्रमाण के रूप में देखा गया।

फैसले में कहा गया कि 'जाँच एजेंसी और अभियोजन पक्ष ने अभियुक्तों की भागीदारी साबित करने के लिए जानबूझ कर सच को दबाया गया और ऐसे गवाहों का परीक्षण किया जो कि बिल्कुल भी भरोसे के लायक नहीं थे'। आखिर में कोर्ट ने 'एकनाथ गनपत अहेर और अन्य बनाम महाराष्ट्र राज्य (2010) के उस फैसले का हवाला देते हुए सभी अपीलकर्ताओं को बरी कर दिया – जिसके अनुसार सबूतों के अध्ययन के बाद अगर 'उचित संदेह' का कोई कारण दिखे तो 'कोर्ट को अभियुक्तों को संदेह का लाभ देना चाहिए'। कोर्ट ने खेद प्रकट किया कि एक झूठी और गुमराह करने वाली तहकीकात के कारण 'वे लोग जिन्होंने यह अपराध किया था' 'साफ़ बच निकले'। इन अवलोकनों को ध्यान में रखते हुए कुछ बिन्दुओं पर विचार करने की ज़रूरत है।

बथानी टोला हत्याकांड भोजपुर की एक अकेली घटना नहीं थी – यह हत्याकांड रणवीर सेना द्वारा वहाँ किए गए कई एक हत्याकांडों जैसे साराथुआ (जुलाई 1995), नूरपुर (अगस्त 1995), चांदी (फरवरी 1996), नानौर (अप्रैल 1996) और नधी (मई 1996) के बाद हुआ कांड था। उस समय बथानी टोला में जिस तरह से तनाव बना हुआ था वहाँ कोई हिंसात्मक कार्रवाई होना अप्रत्याशित नहीं था। कुछ ही महीनों पहले करीब 60 मुसलमान और नीची जाति के परिवार रणवीर सेना द्वारा कई हमलों के बाद मेन बड़की खड़ाऊ से भाग कर बथानी टोला आए थे (पी.यू.डी.आर. रिपोर्ट बिहार म किसान संघर्ष और रणवीर सेना)। इस बढ़ते हुए तनाव को देखते हुए गाँव के आस पास पुलिस के तीन कैंप स्थापित किए गए थे। परन्तु इन कैंपों के इतने पास होने के बावजूद भी किसी भी पुलिस वाले ने बथानी टोला में हो रहे हत्याकांड को रोकने के लिए कुछ नहीं किया। कोर्ट का यह मानना कि आई.ओ. की लिखित प्रस्तुति (जिसमें दोनों ओर से गोलीबारी की बात कही गई थी) को फर्द–बयान से ज़्यादा तरजीह दी जानी चाहिए थी, इस बात का कोई संज्ञान नहीं लेता, कि अगर पुलिस ने दखल देकर कार्रवाई की होती तो हत्यारे हत्याएं करके भाग नहीं पाते। यह हैरानी की बात है कि कोर्ट ने एक अफसर की प्रस्तुति पर इतना विश्वास किया जिन्हें कुछ ही समय बाद ड्यूटी में लापरवाही के लिए निलंबित कर दिया गया था।

कोर्ट ने कहा कि चश्मदीद गवाह 'अविश्वसनीय'थे। इन 'अविश्वसनीय' गवाहों में नईमुद्दीन थे, जिन्होंने हत्याकांड में अपनी बहन, बहू, दो बेटियाँ (एक नाबालिग) और एक बेटा (नाबालिग) खोया था। उनका दूसरा बेटा गंभीर रूप से घायल हो गया था और जैसे ही रणवीर सेना के लोग गाँव से निकले वे अपने बेटे को लेकर पीरो शहर के प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र भागे थे। उन्हें अविश्वसनीय माना गया क्योंकि उन्होंने चार अलग समय पर अलग अलग बयान दिए थे। पर इन 'विरोधाभासी' बयानों के दिए जाने की परिस्थितियाँ बेहद महत्वपूर्ण हैं। पहला बयान शायद तब दिया गया था जब डॉक्टर ने उनके बेटे का उपचार करने से मना कर दिया था और पुलिस को बुलाया था। पुलिस ने उनसे कहा

कि उपचार तब तक शुरू नहीं होगा जब तक कि वे बयान नहीं दे देते। इसलिए उन्होंने एक कोरे कागज़ पर हस्ताक्षर कर दिए, जिसके बाद ही 11 जुलाई की रात को उनके बेटे का इलाज शुरू हुआ। दूसरा बयान लगभग तीन हफ्तों बाद 30 जुलाई को हुआ था जब वे अपने बेटे को पटना मैडिकल कॉलेज अस्पताल स्थानांतरित कर चुके थे। एक और बयान 7 अगस्त को उनके बेटे के अपनी चोटों से जूझते जूझते मर जाने के ठीक बाद लिया गया। अपने परीक्षण के दौरान नईमुद्दीन ने कहा कि 30 अगस्त 1996 को अपना अंतिम बयान देने से पहले उनसे तीन बार कोरे कागज़ों पर हस्ताक्षर करवाए गए थे। बयान रिकॉर्ड करने वाले इन अफसरों में से किसी का भी परीक्षण नहीं हुआ। कोर्ट को यह मालूम ही होगा कि नईमुद्दीन सवर्ण जाति के प्रभुत्व के खिलाफ संघर्षरत थे और उन्होंने बड़की खड़ाऊ से भाग कर आए लोगों को बचाने की ज़िम्मेदारी खुद पर ले ली थी और वे सी.पी.आई. (एम.एल.) के एक बेहद इज्ज़तदार नेता थे।

एक और गवाह, जिनकी गवाही को उच्च न्यायालय ने खारिज कर दिया, थीं राधिका देवी। घटना के समय वे गर्भवती थीं। उन्हें छाती में गोली लगी थी। उन्होंने एक हमलावर बच्चा सिंह को अभियुक्त के रूप में पहचाना था। हमलावरों ने उन्हें यातनाएं दीं थीं और उनकी उंगलियों को कुचल दिया था। उन्हें ठीक से इलाज हो पाने के लिए पीरो स्वास्थ्य केन्द्र से आरा सदर अस्पताल से लेकर अंततः पटना मैडिकल कॉलेज अस्पताल भटकना पड़ा। उनके हिला देने वाले बयान में से उच्च न्यायालय को केवल एक बात महत्वपूर्ण लगी 'उनकी चोट या पटना मैडिकल कॉलेज अस्पताल में उनके इलाज के संबंध में कागज़ का एक टुकड़ा तक रिकॉर्ड में नहीं लाया गया'। चोट या इलाज के संबंध में किसी भी रिपोर्ट के न होने की निंदा करने के बाद फैसले में उनकी कहानी पर और भी शंकाएं ज़ाहिर की गईं। इनका आधार था कि 'इनका दावा है कि यह देखने लिए कि वे ज़िंदा तो नहीं हैं उनकी उंगलियों को कुचला गया, परन्तु चोट से संबंधित कोई रिपोर्ट उंगलियों में चोट नहीं दिखाती'। उन्हें छाती में गोली लगी थी तो भी उनके दावे पर कि गोलीबारी के समय वे घर पर थीं, अविश्वास किया गया। सूचना देने वाले के बयान को, जिसमें वे घर में मौजूद लोगों के नामों में उनका नाम लेने से चूक गए थे, उनके घर पर न होने का सबूत माना गया, जबकी उन्हीं सूचना देने वाले के हमलावरों को पहचानने के बयान को झूठा मान कर अस्वीकार कर दिया गया था! कोर्ट ने इस बात पर कोई ध्यान क्यों नहीं दिया कि राधिका देवी जिरह के समय अपने बयान पर टिकी रहीं थीं और उन्होंने कोर्ट में पहचान परेड के दौरान अभियुक्त को पहचाना भी था?

सूचना देने वाले पहले व्यक्ति किशन चौधरी थे। उन्होंने हत्याकांड में अपनी पत्नी, भाई और बेटी को खोया था। उन्होंने कहा कि उन्होंने हमलावरों को गोलियाँ चलाते, लोगों की हत्याएं करते और घरों में आग लगाते हुए देखा था और पास के एक गड्ढे में छिप कर वे अपने को बचा सके थे। उनके बयान से साफ़ ज़ाहिर है कि हत्याकांड के संबंध म असल 'देरी' तब हुई जबकि रणवीर सेना हत्याकांड में लगी हुई थी और पुलिस द्वारा जानबूझ कर कोई कार्रवाई नहीं की गई। देरी तब हुई जबकि गाँव वाले और पुलिस मारे गए लोगों के शवों के अंतिम संस्कार या पोस्ट मॉर्टम में लगे थे। उनके बयान, कि हत्याकांड के आघात और परिवार के तीन सदस्यों को खो देने के दुख के कारण वे सदमे में थे और उन्होंने वह रात एक डॉक्टर के घर गुज़ारी थी, जहाँ उन्हें इंट्रावीनस दवा आदि दी जा रही थी, को कोई अहमियत नहीं दी गई।

सूचना देने में इस देरी को 'पुलिस और प्रशासन द्वारा उन्हें समय देने, लोगों से मिलने जुलने और नाम और कहानियाँ गढने' की मोहलत देने के रूप में देखा गया। कोर्ट का पूरा ज़ोर था कि ऑफीसर इन चार्ज के बयान को एफ. आई.आर. माना जाए, फर्द–बयान को नहीं। ऐसा क्यों था? क्या इसलिए कि फर्द–बयान में 'दोनों ओर से गोलीबारी' का कोई ज़िक्र नहीं था?

सवाल बहुत से हैं पर जवाब बहुत कम हैं। बथानी टोला के लोगों के लिए उच्च न्यायालय का फैसला 'न्याय' नहीं बल्कि उसका मखौल है। अगर कोर्ट ने अभियुक्तों को फंसाने की पुलिस की कोई सोची समझी कोशिश पकड़ी थी, तो उसे पुलिस के खिलाफ कार्रवाई करनी चाहिए थी। और अगर मामला तहकीकात और अभियोजन की लापरवाही का था तो उसे दोबारा तहकीकात और मुकदमे का आदेश देना चाहिए था।

नतीजा यह है कि 21 लोगों की हत्याओं के लिए कोई ज़िम्मेदार नहीं ठहराया गया, पर उच्च न्यायालय ने न तो पुनः तहकीकात का आदेश दिया और न दोबारा मुकदमा चलाये जाने का। अभियोजन पक्ष ने सर्वोच्च न्यायालय में जुलाई 2012 में एक अपील दर्ज़ की है। उसका क्या नतीजा

निकलेगा इसका अंदाज़ा लगाना अधिक मुश्किल नहीं है।

y{e.kiqj ckFk dh vukdk =klfn;k

1 दिसम्बर 1997 की रात को रणवीर सेना की एक उपद्रवी भीड़ ने जहानाबाद जिले के अरवल ब्लॉक के लक्ष्मणपुर बाथे नाम के गाँव के दलित टोले पर हमला किया। इन लोगों ने ज़बर्दस्ती घरों में घुसकर अंधाधुंध गोलीबारी की। हत्याकांड में 58 लोग, जिनमें महिलाएं और बच्चे भी शामिल थे, मारे गए। मारे गए ज़्यादातर लोग दलित और पिछड़ी जातियों के थे। इनमें से सबसे छोटा एक एक साल का बच्चा था। हत्याकांड के बाद हत्यारे रणवीर बाबा के नाम के नारे लगाते हुए गाँव से निकले और उन्होंने रास्ते में स्थित सोन नदी के पास रह रहे पाँच गरीब मछुआरों को भी मार डाला।

इस घटना में बर्बता और क्रूरता की सभी हदें पार कर दी गईं थीं, इसलिए सभी प्रचार माध्यमों में सुर्खियों में इसका प्रचार हुआ और इसने पूरे देश को हिला कर रख दिया। उस समय के राष्ट्रपति के.आर. नारायनन ने इसे 'राष्ट्रीय शर्म' का नाम दिया। और बिहार के मुख्यमंत्री ने 3 दिसम्बर को ही गाँव का दौरा किया। ऐसी उम्मीद की जा सकती थी कि ऐसे माहौल में, जाँच एजेन्सियाँ और न्यायालय इस घटना को रणवीर सेना द्वारा रोज़मर्रा की हत्याओं से ज़्यादा गंभीरता से लेंगे। पर जिस तरह से देश की आपराधिक न्याय प्रणाली इस 'राष्ट्रीय शर्म' से निपटने में पूरी तरह से असफल रही वह लक्ष्मणपुर बाथे की दूसरी त्रासदी थी।

बिनोद पासवान के बयान पर 2 दिसम्बर 1997 को ही मेहंदिया थाने में एफ.आई.आर. दर्ज़ हो गई थी परन्तु वह 4 दिसम्बर को सी.जे.एम. जहानाबाद के पास पहुँची। इस देरी के, जिसका कोई कारण समझाया नहीं जा सकता, बाद में बहुत ही दुःखद नतीजे निकले। पुलिस ने बयान में नामांकित कुछ अभियुक्तों को 3 दिसम्बर से ही ढूंढना शुरू कर दिया था, पर एक को छोड़ कर इनमें से सभी लोग फरार हो चुके थे। इस एक व्यक्ति को गिरफ्तार कर लिया गया। 10 दिसम्बर 1997 को तहकीकात बिहार सी.आई.डी. के डिप्युटी एस.पी. को स्थानान्तरित कर दी गई। 27 फरवरी 1998 को 48 लोगों के खिलाफ आरोप पत्र दर्ज़ किया गया, जिसमें 152 गवाहों के नाम थे। बाद में दो और लोगों के खिलाफ एक पूरक आरोप पत्र दर्ज़ किया गया और एक व्यक्ति को नाबालिग होने के आधार पर छोड़ दिया गया। अंततः 6 जनवरी 1999 को यानी की घटना के एक साल और चार महीनों बाद केस सत्र न्यायालय पहुँचा। इसके बाद सब कुछ और भी विचित्र होता गया क्योंकि केस की सुनवाई ही नहीं हुई! आखिर में पटना उच्च न्यायालय ने 7 अक्टूबर 1999 को केस दूसरे एडीशनल सेशसं न्यायाधीश को सौंप दिया। इस हस्तांतरण के बावजूद भी तब तक सुनवाई नहीं हुई जब तक कि एक बार फिर उच्च न्यायालय पर दबाव नहीं डाला गया और फिर न्यायालय ने दो बार नवम्बर में और फिर दिसम्बर में ये आदेश नहीं दिये कि मामले को तीसरे सेशनस न्यायाधीश को सौंप दिया जाए और सुनवाई शुरू की जाए और जल्दी से की जाए। इस तरह से इस भयानक हत्याकांड की सुनवाई शुरू होने तक में 11 साल लगे!

अंततः 2008 दिसम्बर में 45 लोगों के खिलाफ आरोप तय किए गए। कोर्ट ने 91 गवाहों का परीक्षण किया जिनमें से 17 चश्मदीद गवाह थे। इन 17 चश्मदीद गवाहों के बयान, जिनमें उन्होंने अपने करीबी परिजनों को सामने मरते हुए देखने और खो देने का ब्यौरा दिया है, रोंगटे खड़े कर देने वाले हैं। ग्यारह साल बाद उनके बयान कोर्ट में लिए गए और उनसे उन अभियुक्तों को पहचानने को कहा गया, जिनके नाम उन्होंने लिए थे। इसने समय के अंतराल के बाद उनसे उम्मीद की गई कि वे यह भी बता सकें कि पुलिस ने ठीक किस समय उनके बयान रिकॉर्ड किए थे।

परन्तु इतना समय बीतने के बावजूद 17 चश्मदीद गवाहों ने विश्वासप्रद काम किया। उच्च न्यायालय के फैसले में दिए गए इनके संक्षेपित बयानों में से प्रत्येक बयान विश्वास करने लायक है। इनमें से ज़्यादातर गवाह हत्याकांड के समय काफी छोटे रहे होंगे। इनमें से कुछ उस समय कहीं न कहीं छिप गए थे, जब उनके परिवार के लोगों को मारा जा रहा था, जैसे कि चारपाई के नीचे (बलवंती देवी), झोंपड़ियों की छत पर, बेलों के पीछे और अनाज रखने के मिट्टी के बर्तनों के पीछे। कुछ गवाह खुद भी घायल हुए थे, जैसे कि महुरती देवी को गोली लगी थी और वे नीचे गिर गईं थीं। उन्होंने गिरजा सिंह को पहचाना, जिसने उनकी माँ को मारा था, बलीराम सिंह को जिसने उनकी गले की माला और बालियाँ छीनीं थीं और नवल व गोपाल सिंह को जिन्होंने उन पर और औरों पर गोलियाँ चलाईं थीं।

इन बयानों के आधार पर तीसरे सत्र न्यायालय ने 7 अप्रैल 2010 को 45 में से 26 अभियुक्तों को दोषी करार दिया। इनमें से 16 को फांसी की सज़ा दी गई और अन्य दस को आई.पी.सी. की विभिन्न धाराओं, आर्म्स ऐक्ट और एस.सी.

एंड एस.टी. (प्रिवेंशन ऑफ अट्रौसिटीस) ऐक्ट के तहत कठोर कारावास की सज़ा दी। बाकी के अभियुक्तों को बरी कर दिया गया। दोषी करार दिए गए लोगों ने पटना उच्च न्यायालय में अपील दायर की। और यहाँ मामले ने विचित्र मोड़ लिया। 26 लोगों के खिलाफ चश्मदीद गवाहों के ठोस बयानों के बावजूद दो सदस्यीय पीठ ने 9 अक्टूबर 2013 (बिहार राज्य बनाम गिरिजा सिंह और एएनआर 2013) को दिए गए अपने फैसले में सभी को बरी कर दिया।

वी.एन. सिन्हा और ए.के. लाल की पीठ ने बचाव पक्ष की राय से सहमति जताई कि अभियोजन पक्ष 26 अभियुक्तों के खिलाफ गुनाह साबित नहीं कर पाया है और हत्याकांड अन्जान लोगों ने किया था जो कि सहर क्षेत्र की ओर भागे थे और उन्होंने सोन नदी के किनारे पाँच मछुआरों को भी मार दिया था। अभियोजन पक्ष की दलील में कोर्ट के अविश्वास के निम्नलिखित बिन्दु थे : 1) एफ.आई.आर. दर्ज़ किए जाने में देरी, 2) सूचना देने वाले पहले व्यक्ति द्वारा अभियुक्तों को पहचाने जाने में अविश्वसनीयता, 3) दो दिसम्बर को पुलिस द्वारा चश्मदीद गवाहों के बयान दर्ज़ न कर पाना, और 4) अभियोजन पक्ष के गवाहों का भरोसे का न होना। फैसले में कहा गया कि पुलिस के उच्च अधिकारी एस.डी.पी.ओ. अरवल द्वारा घटना के समय और 10 दिसम्बर 1997 के बीच की गई तहकीकात से असंतुष्ट थे। और जब 10 दिसम्बर को मामले को सी.आई.डी. पटना के डिप्युटी एस.पी. को सौंपा गया, तो वे भी कम से कम अभियुक्तों पहचान के संबंध में 'स्थिति को उबार नहीं पाए'।

फैसले में मुख्य मुद्दा देरी का है। कोर्ट ने कहा कि किसी भी पुलिस अधिकारी के पास एफ.आई.आर. को सी.जे.एम. जहानाबाद की अदालत में भेजे जाने में देरी का कोई संतोषजनक स्पष्टीकरण नहीं है। कोर्ट के अनुसार यह देरी कोई साधारण चूक नहीं है बल्कि यह गढ़ी हुई तहकीकात से गहराई से जुड़ी है। आई.ओ. 2 दिसम्बर को 11 चश्मदीद गवाहों से मिला, पर उसने उनके बयान रिकॉर्ड नहीं किए और उन्होंने भी हमलावरों के कोई नाम नहीं बताए। उनके बयान और हमलावरों के नाम बाद के दिनों में रिकॉर्ड किए गए। चार चश्मदीद गवाह, जिन्होंने 2 दिसम्बर को अपने बयान दर्ज़ करवाए थे, कोर्ट में गवाही देने के लिए बुलाए ही नहीं गए। पहली गिरफ्तारी का समय और 3 दिसम्बर को बंदूक की ज़ब्ती दोनों बनावटी थीं, क्योंकि यह मानने का कोई कारण नहीं है कि यह दोनों पिछले दिन, यानी 2 दिसम्बर को ही क्यों नहीं की जा सकती थीं।

कोर्ट का मानना था कि एक बार अपीलकर्ताओं को पहली यानी अशोक सिंह की गिरफ्तारी और गोपाल सिंह के घर से बंदूक बरामद होने के बाद 'अपने आरोपित होने' के बारे में पता चला, तो उन्होंने खुद ब खुद सामने आ कर सरेंडर करना शुरू कर दिया। सरेंडर बिल्कुल सही समय पर हुए, जिससे आई.ओ. को यह मौका मिल गया कि वह असली गुनहगारों के बारे में तहकीकात न करे। इन अपीलकर्ताओं को, जो कि पास के गाँवों के निवासी थे, पुराने फर्द–बयान और तोड़ मरोड़ कर रिकॉर्ड किए गए बयानों के आधार पर सुनियोजित तरीके से 'आरोपित' किया गया था।

फैसले की अजीबोगरीब अवधारणा कि आई.ओ. 2 दिसम्बर को पूरे दिन यह तय करते हुए घूम रहा था कि गुनाह किस किस के सर पर डालना है और 3 दिसम्बर को उसने अशोक सिंह को गिरफ्तार करने का निर्णय लिया, निहायत बेतुकी है। सिंह की गिरफ्तारी का मज़ाक बनाते हुए कोर्ट यह नहीं समझा पाया कि ऐसा मानना कैसे तार्किक है कि अभियुक्त पिछले दिन घर पर बैठ कर गिरफ्तारी का इंतज़ार कर रहा होगा।

और यह तर्क भी उतना ही विचित्र है कि जैसे ही अभियुक्तों को पता चला कि पुलिस ने उन्हें एक झूठे केस में फंसा दिया है और उनके बचने का कोई रास्ता नहीं है तो उन्होंने खुद सामने आकर सरेंडर कर दिया। उससे भी ज़्यादा विचित्र चश्मदीद गवाहों को इस आधार पर अस्वीकार कर देना है कि वे भरोसे के लायक नहीं हैं और बेगुनाह निवासियों को फंसाने के लिए ज़िम्मेदार हैं। उदाहरण के लिए कोर्ट ने महुरती देवी द्वारा अभियुक्तों को पहचाने जाने को इसलिए अस्वीकार कर दिया क्योंकि उन्होंने घटना के काफी बाद ये नाम दिए थे। इसी तरह से कोर्ट ने यह दावा किया कि सूचना देने वाले पहले व्यक्ति के लिए 9 अभियुक्तों को पहचानना असंभव था क्योंकि उन्होंने खुद को कमरे में छिपा लिया था। उनका बयान कि उन्होंने बाकियों को झोंपड़ी की छत से देखकर पहचाना था, झूठा माना गया क्योंकि उस समय तक हमलावर भाग रहे थे और इन गवाहों को उनकी पीठें दिख रही होंगी। कुछ अन्य गवाहों के बयान भी इस ही तरह से कम आंक कर खारिज कर दिए गए। कई मामलों में सर्वोच्च न्यायालय ने स्वयं माना है कि कम रोशनी में भी लोगों को पहचाना जा सकता है या फिर अंधेरे में भी लोगों के बोलने, चलने और हाव भाव से लोगों को पहचानना संभव

है। उच्च न्यायालय ने इन सभी बातों पर ध्यान नहीं दिया।

आखिर में कोर्ट ने एक निरर्थक व्याख्या दी। इस व्याख्या के अनुसार, जो कि हमलावर अभियुक्तों के वकील के तर्कों के आधार पर गढ़ी गई थी, पुलिस को गुनहगारों की पहचान के बारे में कोई जानकारी नहीं थी और उन्होंने 45 लोगों को केवल झूठे आरोप लगा कर फंसाया था। इसे इस तरह से समझ सकते हैं कि कोर्ट के अनुसार पुलिस ने हमले के शिकार लोगों के साथ मिल कर एक षडयंत्र के तहत 45 लोगों को एक अपराध के आरोप में फंसा दिया जो कि उन्होंने किया ही नहीं था! अगर यही सच है तो यह एक 'बेहद बड़े' मामलों में से है जिनमें भारतीय पुलिस लोगों को आपराधिक मामलों में फंसा देती है, खासकर इसलिए क्योंकि इसमें 16 लोगों को फांसी की सज़ा हुई थी।

यह बहुत ही हैरानी की बात है कि फैसले के इस पक्ष के बारे में कोई टिप्पणी नहीं हुई हैं। यह असल में उन मामलों से कहीं अलग है जिनमें न्यायाधीश अभियुक्तों को बरी करते समय अपर्याप्त सबूतों को कारण बताते हैं या पुलिस को खराब तहकीकात के लिए फटकारते हैं। इस फैसले में उच्च न्यायालय की पीठ को अभियुक्तों की बेगुनाही और गवाहों के गुनहगार होने पर पूरा विश्वास है! हमें उच्च न्यायालय का आभारी होना चाहिए कि उन्होंने इस तथाकथित झूठे मामले और पुलिस और हमले के शिकार लोगों के बीच के आपराधिक षडयंत्र की तहकीकात किए जाने का आदेश नहीं दिया। शायद भारत में न्याय व्यवस्था अभी काफ्का की कहानियों में दिखाई गई विडंबनाओं की इस हद तक नहीं पहुँची है।

नतीजा यह है कि हत्यारों को कोई सज़ा न मिलने से मारे गए लोगों और उनके परिवारों को न्याय से वंचित कर दिया गया है। और इस बार भी उच्च न्यायालय ने दोबारा तहकीकात या ट्रायल का आदेश देना ज़रूरी नहीं समझा। बथानी टोला और लक्ष्मणपुर बाथे में अभियुक्तों को बरी किए जाने के सब ओर हुए विरोधों के परिणामस्वरूप अंततः राजसत्ता ने बरी किए जाने के खिलाफ सर्वोच्च न्यायायल में अपील की। बथानी टोला फैसले के खिलाफ अपील आखिरकार जुलाई 2012 में दाखिल हुई। लक्ष्मणपुर बाथे के उच्च न्यायालय के फैसले के खिलाफ दायर अपील आज भी लंबित है। यह तथ्य कि लक्ष्मणपुर बाथे के दलितों के साथ घटी 'राष्ट्रीय शर्म' की घटना के बारे में राजसत्ता का सरोकार इतना कम है कि सर्वोच्च न्यायायल में दर्ज़ अपील के बारे में कोई कार्रवाई नहीं की गई है, यहाँ तक कि अपील दाखिल तक नहीं हुई है, बिल्कुल साफ कर देता है कि उसकी सहानुभूति असल में किस तरफ है।

ukxjh e dkbZ xokg gh ugh gS

11 मई 1998 को रणवीर सेना के करीब 80–90 हथियार बंद कार्यकर्ता भोजपुर के चारपोखरी थाने में आने वाले एक छोटे गाँव नागरी में घुसे। वे बाज़ार में फैल गए और उन्होंने वहाँ तांडव मचा कर 10 लोगों को मार डाला। चारपोखरी थाने के ऑफीसर इन चार्ज हत्याओं की सूचना मिलने के बाद गाँव आए और उन्होंने बाज़ार में ही जानकारी देने वालों के फर्द–बयान रिकॉर्ड किए। परन्तु एफ.आई.आर. एक दूसरे ए. एस.आई. द्वारा लिखी गई, जिन्हें थाने पर वापिस भेज दिया गया था। चार दिनों बाद, मामले की जाँच एक तीसरे अधिकारी को सौंप दी गई। एफ.आई.आर. भोजपुर के सी.जे. एम. के कोर्ट में दो दिन बाद यानी 13 मई को पहुँची। इस देरी के बारे में कोई कारण कभी नहीं बताया गया। आरा के सत्र न्यायालय में 15 अभियुक्तों के खिलाफ मामला 1999 में शुरू हुआ। इसके 10 साल से भी ज़्यादा बाद अगस्त 2010 में मामले का फैसला आया। तीन लोगों को फांसी की सज़ा और 8 को उम्र कैद की सज़ा सुनाई गई। फांसी की सज़ा और दोषी ठहराए जाने के खिलाफ अपील (अनिल कुमार सिंह बनाम बिहार राज्य 2013) उच्च न्यायालय की दो सदस्यीय पीठ – वी.एन. सिन्हा और ए.के. लाल के सम्मुख आयी। पीठ ने सभी 11 अपीलकर्ताओं को 1 मार्च 2013 को बरी कर दिया।

सुनवाई के दौरान 15 गवाहों का परीक्षण हुआ, जिनमें से 8 चश्मदीद गवाह थे। इन 8 में से 6 कोर्ट में अपने बयान पर कायम रहे, पर 2 पर निचली अदालत ने अविश्वास किया क्योंकि वे जिरह के लिए कभी आए ही नहीं। एक अन्य गवाह ने अभियोजन पक्ष के विवरण का समर्थन किया, पर वे हमलावरों को पहचान नहीं सके। अभियोजन पक्ष के सबूत दो गवाहों पर निर्भर थे। उच्च न्यायालय की पीठ ने इन दो गवाहों की विश्वसनीयता को अस्वीकार कर दिया। कोर्ट ने किस आधार पर दो गवाहों के बयानों को अस्वीकार किया यह जानने से पहले यह ध्यान दिलाना ज़रूरी है कि जैसा कि लक्ष्मणपुर बाथे के मामले में हुआ था, यहाँ भी कोर्ट ने एफ. आई.आर. के सी.जे.एम. भोजपुर के पास पहुँचने में हुई देरी के बारे में ध्यान दिलाया। कोर्ट ने तर्क दिया कि करीब 36

घंटों की देरी से लगता है कि एफ.आई.आर. और फर्द–बयान असल में 'इन दस्तावेजों में दी गईं तारीख और समय के बहुत बाद' दर्ज़ हुए थे। इसके अलावा बैंच ने अभियुक्तों के पेश किए जाने में दो दिनों की देरी के बारे में भी ध्यान दिलाया। यह देरी महत्वपूर्ण थी क्योंकि इससे लगता है कि हालांकि एफ.आई.आर. और फर्द–बयान (जो कि हत्याकांड की रात को ही दर्ज़ हो गए थे) में अभियुक्तों के नाम शामिल थे, पर अभियोजन अभियुक्तों पहचान को लेकर आश्वस्त नहीं था।

पीठ ने मुख्य गवाह और सूचना देने वाले व्यक्ति उमा शंकर की विश्वसनीयता पर हमला करते हुए उनके और आई.ओ. के बयानों की तुलना की। ध्यान रखना चाहिए कि उमा शंकर के फर्द–बयान के आधार पर घटना की रात यानी 11 मई को ही चारपोखरी थाने में एफ.आई.आर. दर्ज़ हो गई थी। उमा शंकर ने दावा किया था कि हत्याएं 6 अलग अलग जगहों पर हुईं और उन्होंने दो स्थानों से – एक अपनी आटे की चक्की में जल रही जेनेरेटर की लाइट से (जहाँ हमलावर घुस गए थे) और दूसरा चाँद की रोशनी में साथ की दुकान की छत से जिस पर वे चढ़ गए थे, 60 हमलावरों को पहचाना था। कोर्ट ने उनके बयान पर सवाल उठाते हुए कहा कि आई.ओ. ने कहा था कि घटनास्थल पर उपस्थित किसी भी व्यक्ति ने उस शाम किसी भी हमलावर का नाम नहीं बताया था। पीठ ने यह तर्क भी दिया कि हालांकि सूचना देने वाले ने फर्द–बयान में 60 में से 27 अभियुक्तों के नाम दिए थे, आई.ओ. ने उनमें से 14 को आगे सुनवाई के लिए नहीं भेजा क्योंकि उनके खिलाफ लगे विशिष्ट आरोप गलत पाए गए थे। पीठ ने यह राय दी कि आई.ओ. को अभियोजन की कहानी 'झूठी' लगी थी। पीठ ने नोट किया कि सूचना देने वाले व्यक्ति सी.आर.पी.सी. की धारा 319 के तहत याचिका दायर करके इन 14 अभियुक्तों को मुकदमे का सामना करने के लिए पेश कर पाने में असफल रहे और यह 'बेगुनाह लोगों को झूठे मामलों में फंसाने की उनकी आदत का सूचक है'।

इसके बाद पीठ ने बताया कि उन्हें विश्वास नहीं होता कि सूचना देने वाले यह व्यक्ति अंधाधुंध गोलीबारी में से खुद को कैसे बचा सके, खासकर तब जबकि निचली अदालत की कार्रवाई में इसका कोई जिक्र नहीं है। पीठ को पूरा विश्वास है कि सूचना देने वाले ये व्यक्ति केवल चाँद और जेनेरेटर की रोशनी में हमलावरों को नहीं पहचान सकते थे। और जबकि उन्हें खुद को भी बचाना था तो ऐसे में छत से हमलावरों को पहचान पाने की उनकी क्षमता पर पीठ को विश्वास नहीं था। पीठ ने आई.ओ. के बयान को विश्वसनीय माना कि सूचना देने वाले ने उन्हें न तो वह सीढ़ी दिखाई थी जिस की मदद से वे पड़ोसी की छत पर चढ़े थे और न ही जेनेरेटर, वह भी तब जब कि सूचना देने वाले ने बयान दिया था कि उन्होंने हत्याकांड की रात को ये दोनों चीज़ें आई.ओ. को दिखाई थीं। पीठ ने निष्कर्ष निकाला कि नागरी बाज़ार का जो रेखाचित्र आई.ओ. ने खींचा था अगर उस पर विश्वास किया जाए तो सूचना देने वाले व्यक्ति के लिए हमलावारों को पहचान पाना भौगोलिक रूप से असंभव है।

एक अन्य गवाह के प्रमाण की कहानी भी उतनी ही विचित्र है। सूचना देने वाले व्यक्ति के अनुसार जिन्होंने अभियुक्तों को पहचाना था पर कोर्ट में उन्होंने इस बात से इनकार कर दिया कि उन्होंने किन्हीं अभियुक्तों को पहचाना था। यह गवाह अपने बयान से पलट गये, परन्तु उनक परस्पर विरोधी बयानों को सच माना गया और सूचना देने वाले के बयान को अस्वीकार कर दिया गया। एक और चश्मदीद गवाह कमलेश पांडे घटना के स्थान पर उपस्थित थे और उन्होंने सूचना देने वाले के बयान का समर्थन किया था और वे अपील करने वाले और अन्य अभियुक्तों को पहचान भी सके थे। उनके बयान को अस्वीकार कर दिया गया क्योंकि उन्होंने घटना के 5–6 दिन बाद पुलिस को अपना बयान दिया था।

पीठ सूचना देने वाले गवाह की जगह आई.ओ. पर ज़्यादा भरोसा करने पर क्यों आमादा थी? अगर सूचना देने वाले गवाह ने असल में आई.ओ. को जेनेरेटर नहीं दिखाया था तो उस रात को अपनी जाँच रिपोर्ट बनाने के लिए आई.ओ. को पैट्रोमैक्स किसने दिया था? आई.ओ. का यह कह देना भर कि किसी ने हमलावरों के नाम नहीं बताए थे, अपने आप यह कैसे साबित करता है कि सूचना देने वाले का बयान झूठा है? कोर्ट ने इस तथ्य पर कोई ध्यान क्यों नहीं दिया कि दूसरे गवाह कमलेश पांडे ने पीरो अस्पताल में अपने भाई के हमलावरों के नाम इसलिए नहीं बताए क्योंकि अफसर ने उनसे यह पूछा ही नहीं था? पीठ बचाव पक्ष से सहमत हो गयी कि कोर्ट द्वारा 12 साल बाद परीक्षण के दौरान नामों का खुलासा 'नज़रअंदाज़ करने के लायक' है। असल में अगर इस फैसले पर जाएं तो नागरी हत्याकांड के सभी गवाहों के बयानों को यही शीर्षक दिया जा सकता है –'नज़रअंदाज़

करने के लायक'!

इस मामले में सभी अभियुक्तों के बरी हो जाने का मतलब है कि 10 लोगों की मौतों के लिए कोई भी ज़िम्मेदार नहीं ठहराया गया है। इन लोगों की मौतें उच्च न्यायालय के लिए इतना भी महत्व नहीं रखतीं कि अगर कोर्ट सबूतों से संतुष्ट नहीं था वह दोबारा तहकीकात या ट्रायल का आदेश दे देता। ये मौतें सरकार के लिए भी कोई मायने नहीं रखतीं इसलिए सरकार की तरफ से अगला तर्कसंगत कदम – यानी कि बरी किये जाने के खिलाफ सर्वोच्च न्यायालय में अपील दायर करना – भी नहीं उठाया गया। जबकि बिहार सरकार ने अपनी ज़िम्मेदारी से मुँह मोड़ लिया सी.पी.आई. (एम.एल.) द्वारा सर्वोच्च न्यायालय में अपील दायर की गई। इस स्पेशल लीव पेटिशन (सीआरएल) नम्बर 5110/2013 में बहस अभी लंबित है और यह मामला सुनवाई के लिए आने के इंतज़ार में है।

fe;kiqj HkVdh gqbZ rgdhdkr

औरंगाबाद जिले के मियांपुर गाँव में हुआ हत्याकांड रणवीर सेना द्वारा किया गया आखरी बड़ा हत्याकांड था, जिसमें 33 लोग मारे गए थे। यह हत्याकांड एम.सी.सी. द्वारा 18 मार्च 1999 को जहानाबाद के सेनारी गाँव में किए गए हत्याकांड का बदला लेने के लिए किया गया था। 16 जून 2000 को करीब 400–500 लोग गाँव में घुसे और उन्होंने गाँव वालों पर गोलियाँ बरसानी शुरू कर दीं। सेनारी के हत्याकांड के बाद से तनाव बढ़ता जा रहा था और बदले के लिए किसी बड़े हमले का अंदेशा था। जिस समय गाँव के पूर्वी छोर से हमला हुआ, गाँव वाले गाँव में गश्त लगा रहे थे और पुलिस पश्चिमी तरफ से वहाँ पहुँच रही थी। ऐसा कहा गया कि हमलावर सेनारी कांड का बदला लेने के नारे लगा रहे थे। 17 जून को रात 11 बजे एफ.आई.आर. दर्ज़ की गई पर यह मजिस्ट्रेट के पास 20 जून को पहुँची। एक बार फिर इस देरी का कोई कारण नहीं दिया गया पर इससे तहकीकात के दोषपूर्ण होने का संकेत तो मिलता ही है।

घटना के बाद पहले 20 दिनों में तहकीकात की ज़िम्मेदारी तीन इंस्पेक्टरों के पास घूमती रही। आरोप पत्र दो चरणों में दर्ज़ किए गए – 4 सितम्बर 2000 को पहले समूह के खिलाफ और 11 अप्रैल 2002 को दूसरे समूह के खिलाफ। एस.सी. एंड एस.टी. (प्रिवेंशन ऑफ़ अट्रोसिटीज़) ऐक्ट के आरोप भी जोड़े गए। पाँच साल के बाद 20 सितम्बर 2007 को, विशेष न्यायाधीश ने अपने फैसले में नौ लोगों को उम्र कैद की सज़ा दी और दो को बरी कर दिया। सरकार ने नौ अभियुक्तों की उम्र कैद की सज़ा को बढा कर फांसी में बदलने और दो के बरी किये जाने के फैसले को रद्द किए जाने के लिए पटना उच्च न्यायालय में अपील की। जहाँ यह मामला एक बार फिर उसी पीठ यानी कि जस्टिस वी.एन. सिन्हा और जस्टिस ए.के. लाल के सामने आया जिन्होंने अन्य तीनों मामले यानी बथानी टोला, लक्ष्मणपुर बाथे और नागरी बाज़ार के मामले सुने थे। तीन जुलाई 2013 को पीठ ने एक अपीलकर्ता को छोड़ कर सभी अभियुक्तों को बरी कर दिया (नंद कुमार शर्मा और नेताजी बनाम बिहार सरकार 2013)।

मियांपुर हत्याकांड में अभियोजन के पास 49 गवाह थे। इनमें से दो को प्रतिकूल (होस्टाइल) घोषित कर दिया गया। तीन अन्य की गवाही को इसलिए अस्वीकार कर दिया गया क्योंकि वे जिरह के लिए कोर्ट में पेश नहीं हुए। 19 अन्य की गवाही को माना नहीं गया क्योंकि उन्होंने जिन हमलावारों को पहचाना था उनका ट्रायल सत्र न्यायालय में नहीं हुआ था। 20 घायल हुए गवाहों में से केवल 4 का गवाहों के रूप में परीक्षण हुआ। इन गवाहों का परीक्षण घटना के छः साल बाद यानी 2006 में हुआ, जब उच्च न्यायालय ने सुनवाई को तेज़ करने के लिए आदेश दिए।

एक अन्य विचित्र बात यह हुई कि बचाव पक्ष ने शुरूआत में 22 चश्मदीद गवाहों की जिरह करने से मना कर दिया जबकि उनको इसका मौका भी दिया गया और इन गवाहों को खारिज कर दिया गया। इसके बाद आई.ओ. ने अपनी गवाही दी और इस बात से मुकर गया कि चश्मदीद गवाहों ने अपीलकर्ताओं के नाम दिए थे और उन्हें पहचाना भी था। हैरानी की बात यह है कि इन गवाहों में सूचना देने वाला व्यक्ति भी शामिल था, जिसकी गवाही के आधार पर आरोप पत्र दर्ज़ हुआ था।

आई.ओ. के बयान दर्ज़ किए जाने के बाद उच्च न्यायालय से यह आदेश हासिल करने की कोशिश की गई कि इन गवाहों को वापस लाया जा सके। सूचना देने वाले समेत सभी चश्मदीद गवाह वापस लाए गए और उन सभी ने अपने वे बयान बदल दिए जिनमें उन्होंने अपीलकर्ताओं और अन्य हमलावरों को पहचाना था। अब उन्होंने कहा कि उन्होंने अपीलकर्ताओं को घटना की रात के आधार पर नहीं, बल्कि पहले से जानने के आधार पर पहचाना था। संक्षेप में

कहें तो अभियोजन पक्ष के लिए उनकी भूमिका निरुपयोगी हो गई। शुरूआत में हुए परीक्षण और दोबारा लाए जाने के बीच गवाहों का अपने बयानों से पलट जाना स्पष्ट रूप से हेर फेर का संकेत देता है। अभियोजन पक्ष ने पीठ से कहा कि इंडियन एवीडेंस ऐक्ट के प्रावधानों के तहत, जिनमें खारिज करने से पहले गवाहों के परीक्षण और पुनःपरीक्षण की अनुमति है, बचाव पक्ष ने गवाहों (नम्बर 31–60) के साथ जिरह नहीं करी। इन गवाहों को आई.ओ. की गवाही के बाद उच्च न्यायालय के आदेश के तहत फिर से बुलाया गया था। अभियोजन पक्ष अपनी बात पर टिका रहा कि 'सबूत रिकॉर्ड करने की प्रक्रिया में कमियाँ थीं'।

आखिर में केवल दो गवाहों के बयान स्वीकार किए गए। हैरानी की बात यह भी है कि कइयों के बयान इसलिए नहीं माने गए क्योंकि उन्होंने हमलावरों के रूप में जिन लोगों के नाम दिए थे उन पर कोर्ट में मुकदमा ही नहीं चला था। कुछ गवाहों के बयान इसलिए अविश्वसनीय माने गए क्योंकि उन्होंने अपने बयानों में यह दावा नहीं किया था कि वे अभियुक्तों को पहले से जानते थे इसलिए वे उन्हें नहीं पहचान सकते थे। एक गवाह को इसलिए खारिज कर दिया गया क्योंकि उन्होंने पहला मौका मिलने पर हमलावर का नाम नहीं बताया था और वे यह नहीं समझा पाए थे कि वे भूंसे के ढेर मे छिपने कैसे पहुँच पाए, जहाँ से उन्होंने हत्याएं होती हुई देखीं। एक गवाह, जिन्होंने अपने परिवार के छः सदस्यों को खोया था, को इसलिए अविश्वसनीय माना गया क्योंकि उन्होंने कहा कि उन्होंने टॉर्च की रोशनी में हमलावरों को देखा था, जबकि आई.ओ. का कहना था कि उसे टॉर्च नहीं दिखाई गई थी। एक अन्य गवाह के बयान को, जिन्होंने हत्याकांड में अपनी पत्नी और बेटी को खो दिया था, इसलिए खारिज कर दिया गया क्योंकि उन्होंने कहा था कि वे घटनास्थल से भाग गए थे और ऐसे में वे हमलावरों को ठीक से नहीं देख सकते थे। एक और गवाह के बयान को आई. ओ. के बयान के आधार पर खारिज कर दिया गया कि गवाह ने अपने बयान में 'न तो यह कहा कि वे फूस की छत पर चढ़े थे' और 'न ही उन्होंने वह सीढ़ी आई.ओ. को दिखाई जिसका इस्तेमाल उन्होंने फूस की छत पर चढ़ने के लिए किया था'। और इस तरह से उनका बयान पीठ की निगाह में मनगढंत था। यहाँ यह बताना ज़रूरी है कि जिन चश्मदीद गवाहों के बयान अस्वीकार कर दिए गए उनमें वे लोग शामिल थे जो हत्याकांड में घायल हुए थे और जो कांड में मारे गए या घायल हुए लोगों के परिवारों के सदस्य थे।

बयानों को अस्वीकार करने में एक आधार जो बार बार दोहराया गया वह यह था कि गवाह घटना के तुरंत बाद हमलावरों को पहचानने या उनके नाम आई.ओ. के पास रिकॉर्ड करवा पाने में असफल रहे और आई.ओ. की केस डायरी से ऐसा लगता है कि कई गवाहों ने हमलावरों के नाम सुने थे पर उन्हें पहचान नहीं पाए थे। एफ.आई.आर. के भेजे जाने और प्राप्ति में हुई देरी, जिसका कारण नहीं बताया जा सका, को भी एफ.आई.आर. और सूचना देने वाले के फर्द–बयान की विश्वसनीयता पर शक पैदा करने के बिन्दु के रूप में उठाया गया। अभियोजन पक्ष ने दलील दी कि घटना के तुरंत बाद जिस समय आई.ओ. अपनी तहकीकात शुरू कर रहा था तब गवाह अपने मारे गए परिजनों के अंतिम संस्कार और घायलों के अस्पताल में इलाज करवाने में व्यस्त थे। फैसले ने आई.ओ. द्वारा की गई तहकीकात की खामियों को नोट किया – आई.ओ. अपनी जाँच में घायलों, डॉक्टरों, पास के थानों की पुलिस और यहाँ तक कि टी.आई.पी. में शामिल लोगों के भी बयान लेने में असफल रहा। और यह भी कि आई.ओ. अपनी केस डायरी में ज़रूरी बातों का रिकॉड रखने में असफल रहा। गवाहों के बयानों और एक खामियों से भरी तहकीकात की केस डायरी में दर्ज़ बयानों के बीच के विरोधाभास चश्मदीद गवाहों के बयानों को उठा कर फेंक देने के लिए काफी थे। परन्तु पीठ ने यह अनुमति ज़रूर दी कि 'राजसत्ता को यह छूट है कि अगर आई.ओ. ने ठीक से और कानून के अनुरूप तहकीकात नहीं की है तो उसके खिलाफ कार्रवाई कर सकता है'।

एक अपीलकर्ता अविनाश चन्द्र के निचली अदालत द्वारा दोषी ठहराए जाने को बरकरार रखा गया उनके अलावा सभी अभियुक्तों को बरी कर दिया गया। उनकी उम्र कैद को फांसी में बदलने की राजसत्ता की अपील को ठुकरा दिया गया और फांसी की सज़ा की मांग को ठुकराने के पीछे मसालती बनाम उत्तर प्रदेश सरकार (1964) के मानकों को आधार बनाया गया। तर्क दिया गया कि 'केवल' दो गवाहों ने उसे पहचाना था और दोनों ही 'उसके खिलाफ कोई स्पष्ट कार्रवाई का आरोप नहीं लगा सके थे इसलिए उसे फांसी की सज़ा दिए जाने के पीछे कोई ख़ास आधार नहीं है'।

इस मामले में भी दोबारा तहकीकात या अभियोजन के आदेश नहीं दिए गए। राजसत्ता द्वारा अभियुक्तों को बरी किए जाने के खिलाफ 2013 में सर्वोच्च न्यायालय में एक अपील दायर की गई। मामले की सुनवाई अभी शुरू नहीं हुई है।

rkfydk 3	ikp gR;kdkMk d eke yk dk lkjk'k					
मामले का नाम	मुकदमें में अभियुक्त	निचली अदालत से बरी	उच्च न्यायालय से बरी	सर्वोच्च न्यायालय से बरी	बरी होने वालों की कुल संख्या	अंत में कुल करार दोषी
बारा	19	7	टाडा में इसकी अनुमति नहीं	5	12	7 (4 – मृत्युदंड, 2 – उम्र कैद, 1 – 10 वर्ष की सज़ा)
बथानी टोला	53	30	23	विचाराधीन	53	0
लक्ष्मणपुर बाथे	46	20	26	.....	46	0
नागरी	15	4	11	.....	15	0
मियांपुर	11	2	8	विचाराधीन	15	1 (उम्र कैद)
L=kr % mPp vkj lokPp U;k;ky ; d Qlyk						

ckjk dk loky

ऊपर दिए गए चार फैसलों और बारा के फैसले की तुलना से हत्याकांडों के इन मामलों में न्यायिक दखल के संबंध में कुछ महत्वपूर्ण मुद्दे निकल कर आते हैं। जहाँ तक मारे जाने वाले लोगों की संख्या का सवाल है वे लगभग एक जैसी हैं – बारा में 35, बथानी टोला में 21, लक्ष्मणपुर बाथे में 58, नागरी में 10 और मियांपुर में 33 लोग मारे गए। मिंयापुर को छोड़ कर सभी में निचली अदालतों ने फांसी की सज़ा सुनाई – बारा में 7, बथानी टोला में 3, लक्ष्मणपुर बाथे में 16 और नागरी में 3 को। इसके अलावा निचली अदालतों द्वारा बारा में 4, बथानी टोला 20, लक्ष्मणपुर बाथे में 10, नागरी बाज़ार में 8, मियांपुर में 9 को उम्र कैद तक की सज़ा सुनाई गई। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि मियांपुर में सरकार ने नौ लोगों की उम्र कैद की सज़ा को बढ़ा कर फांसी में बदलने के लिए अपील भी की थी। जब उच्च न्यायालय ने चार मामलों में (यानी बथानी टोला, लक्ष्मणपुर बाथे, नागरी और मियांपुर) में फैसले दिए तो उनमें मियांपुर में एक व्यक्ति को छोड़ कर सभी अभियुक्तों को बरी कर दिया गया। और दूसरी ओर बारा मामले में बहुमत के फैसले के माध्यम से 4 अभियुक्तों की फांसी की सज़ा को भी बरकार रखा गया है। ऐसे में यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि यह देखने की कोशिश की जाए कि दोनों तरह के मामलों में अंतर क्या हैं।

बारीकियों के हिसाब से यह याद किया जा सकता है कि उच्च न्यायालय के प्रत्येक फैसले में (एक ही पीठ द्वारा दिए गए), सूचना देने वाले की भूमिका, जिनके फर्द–बयान एफ. आई.आर. के आधार बने, कड़ी छानबीन से गुज़री। मियांपुर को छोड़कर, जहाँ मुकदमा ही खामियों से भरा है, उच्च न्यायालय ने सूचना देने वालों और उनके बयानों पर मुख्यतः देरी के आधार पर अविश्वास किया। इन सभी मामलों में, कोर्ट ने कहा कि फर्द–बयान दर्ज़ होने और एफ.आई.आर. दर्ज़ होने और सी.जे.एम. को भेजे जाने के बीच की देरी जान बूझ कर की गई और यह सूचना देने वालों द्वारा सोचे समझे तरीके से अभियुक्तों के नाम गढ़ने का सूचक है। बथानी टोला के मामले में पीठ ने यह तर्क दिया कि अगर अभियोजन फर्द–बयान की जगह बड़की खड़ाऊँ के ऑफीसर इन चार्ज के लिखित बयान पर भरोसा करता तो यह स्पष्ट हो जाता कि यह दोनों ओर से हुई गोलीबारी थी न कि एक तरफ से हुआ हमला।

लक्ष्मणपुर बाथे में कोर्ट ने कहा कि चश्मदीद गवाहों के बयान रिकॉर्ड करने में हुई देरी, पुलिस और गवाहों द्वारा मिलजुल कर मनगढंत कहानी बनाने का हिस्सा थी। चश्मदीद गवाहों द्वारा अभियुक्तों को पहचानने को तीन मुख्य कारणों से अविश्वसनीय माना गया –वे मनगढंत थे इसलिए भरोसे के लायक नहीं थे, दूसरा बयानों में विसंगतियों के कारण और तीसरा क्योंकि उन परिस्थतियों में, या कम रौशनी में या छत के ऊपर से उनके लिए हमलावरों को पहचानना संभव नहीं था। गवाहों द्वारा इतने सदमे और आघात की स्थिति में हमलावरों को पहचानने के सराहनीय काम के बावजूद कोर्ट ने उन्हें अविश्वसनीय करार दे दिया। छोटे में कहें तो मियांपुर को छोड़ कर जहाँ कोर्ट ने एक अभियुक्त को गुनहगार ठहराया क्योंकि उसे 'विश्वसनीय' तरीके से पहचाना

गया था, अन्य मामलों में देरी, खराब तहकीकात और गवाहों की अविश्वसनीयता वे कारण थे जिनके चलते अभियुक्तों का बरी होना 'ज़ाहिर' सी बात थी, जो कि असल में 'बेगुनाह' थे।

अपर्याप्त सबूतों के आधार पर बरी किया जाना समझ में आता है, पर कोर्ट ने चारों में से एक भी मामले में दोबारा तहकीकात या ट्रायल का आदेश नहीं दिया, और इस तरह से इन अत्यधिक भयानक हत्याकांडों में मारे गए लोगों और उनके परिजनों को न्याय से वंचित कर दिया।

इनकी तुलना में बारा की तहकीकात की कमियाँ भी उसी तरह की थीं, पर उनका न्यायिक विवेचन अलग था। पहली बार जिस व्यक्ति ने हत्याकांड की सूचना दी उसे कभी कोर्ट में पेश ही नहीं किया गया। सूचना देने वाला व्यक्ति सत्येंद्र शर्मा, हत्याकांड के बाद रणवीर सेना का एक महत्वपूर्ण सदस्य, यानी गया जिले का चीफ़ बन गया, जिस पर एक लाख का इनाम रखा गया और जिसने पूरे घमण्ड और आत्मविश्वास से घोषणा की कि 'कोई पुलिस वाला मुझे हाथ लगाने की हिम्मत नहीं कर सकता' (इंडियन एक्सप्रेस 4 दिसम्बर 2004)। पर विडम्बना यह है कि इस व्यक्ति की भूमिका की कोई छानबीन नहीं की गई और कोर्ट को इसमें कोई चूक नहीं दिखाई दी। तहकीकात के दौरान चश्मदीद गवाहों के बयान लिए जाने में देरी हुई पर इस मामले में इसे परिहार्य मान कर माफ कर दिया गया। बुंदे सिंह का उदाहरण महत्वपूर्ण है – उनका बयान घटना के दो दिन बाद रिकॉर्ड किया गया था। बहुमत फैसले में तर्क रखा गया कि गाँव में 'जाति आधारित हिंसा' की परिस्थिति को देखते हुए इस देरी को 'असामान्य' नहीं कहा जा सकता। बुधान सिंह का उदाहरण और भी ध्यान देने वाला है। उनका बयान तीसरे दिन रिकॉर्ड किया गया था। सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि यह देरी 'असामान्य' नहीं थी क्योंकि गाँव में महत्वपूर्ण लोगों का तांता लगा हुआ था और गवाह, कई अन्य लोगों की तरह सकते की स्थिति में थे और अपने परिजनों के अंतिम संस्कार में व्यस्त थे। इसी तरह से कोर्ट ने कृष्णा देवी का बयान भी स्वीकार कर लिया जो कि हत्याकांड के दो दिनों बाद रिकॉर्ड किया गया था। इन सभी बयानों के रिकॉर्ड होने में देरी में कोर्ट को, किसी तरह के घालमेल की संभावना नहीं दिखी।

सेना द्वारा किए गए हत्याकांडों की घटनाओं की तरह बारा की घटना के समय भी चश्मदीद गवाह खुद को बचाने के लिए पडोसियों की छतों पर चढ गए थे और उन्होंने वहाँ से हमलावरों को पहचाना था। सर्वोच्च न्यायालय ने इन सब बयानों को महत्वपूर्ण सबूत माना। राम सागर सिंह हत्याकांड के समय पड़ोसी की छत पर चढ़ गए थे और उनके अनुसार उन्होंने वहाँ से एम.सी.सी. के दस्ते को गाँव को तबाह करते हुए देखा था और वहीं से उन्होंने कृष्णा मोची और नन्हे मोची को पहचाना था। सर्वोच्च न्यायालय ने उन्हें चश्मदीद गवाह के रूप में स्वीकार कर लिया और उनके बयान को 'किसी भी शक से परे' माना। और भी महत्वपूर्ण यह है कि उन्होंने ये दावा किया था जब उन्होंने गोलियों की आवाज़ सुनी तो वे अपने घर से बाहर निकल आए। फिर वे भागे और पड़ोसी की छत पर चढ़ गए और वहाँ से उन्होंने हमलावरों को देखा। कोर्ट ने उनसे नहीं पूछा कि वे कैसे अपने को हमलावरों से बचा कर छत पर चढ़ पाए और उन्हें अंधेरे में कैसे दिखाई दिया। दूसरी तरफ नागरी बाज़ार में उच्च न्यायालय ने यह शक ज़ाहिर किया था कि सूचना देने वाला छत पर से हमलावरों को कैसे पहचान सकता था और इसी तरह से लक्ष्मणपुर बाथे में कोर्ट ने सवाल उठाया कि गवाह हमलावरों को कैसे पहचान सकते थे जबकि वे वापस भाग रहे थे और उनकी पीठें गवाह की तरफ थीं।

जहाँ मिंयापुर मामले में कोर्ट ने कुछ चश्मदीद गवाहों के बयान इसलिए अस्वीकार कर दिए क्योंकि वे हमलावरों को पहले से जानते थे, वहीं सर्वोच्च न्यायालय ने बारा मामले में धनंजय सिंह के बयान को स्वीकार कर लिया जबकि उन्होंने साफ कहा था कि वे कृष्णा मोची को पहले से ही जानते थे। और उससे भी महत्वपूर्ण बात कि जैसे ही कत्लेआम शुरू हुआ वे बेहोश हो गए थे और जब वे होश में आए तो वे पूरी तरह ठीक ठाक थे और उन्होंने पहचान लिया कि हत्यारों में कृष्णा मोची भी थे। पर कोर्ट के लिए इस बयान में कुछ भी असामान्य नहीं था।

छोटे में कहें तो ऊपर दी गई सभी घटनाओं में जिस तरह से अपराध हुए वे लगभग मिलते जुलते थे। तहकीकात में देरी और कमियाँ भी एक जैसी थीं, गवाहों के बयानों में कमियाँ या मजबूती भी एक जैसी थीं। पाँचों मामलों में ट्रायल में हुई देरी भी लगभग मिलती जुलती थी – 6 से 14 सालों की। पर फिर भी इन मामलों के नतीजे पूरी तरह से अलग थे। हत्यारों और शिकार हुए लोगों की पृष्ठभूमि, राजसत्ता की मशीनरी की वर्गीय और जातीय संरचना और उनके पूर्वाग्रह, युद्धरत पक्षों के राजनीतिक दृष्टिकोण, एक को 'आतंकवादी' करार दिया जाना, आदि ने बरी किये जाने और फांसी की सज़ा दिए जाने की इस कहानी में अपनी भूमिका निभाई है।

4- Qkalh dh lt+k vkj vkrdokn d: vijkèk

एक अन्यायपूर्ण कानून खुद ही हिंसा का प्रारूप होता है और इसके उल्लंघन के लिए गिरफ्तारी उससे भी अधिक।
– एम.के.गाँधी

अगस्त 2015 में, विधि आयोग (लॉ कमीशन) ने अपनी रिपोर्ट 'द डैथ पेनेलटी' (फांसी की सज़ा) प्रकाशित की, जिसमें भारत और पूरी दुनिया में फांसी की सज़ा के अमल और सिद्धांतों का विश्लेषण किया गया है। इस रिपोर्ट में फांसी की सज़ा को जारी रखने के पक्ष में दिए जाने वाले तर्कों की समीक्षा की गई है : जैसे की अपराध पर रोक लगाना, प्रतिकार (प्रतिदंड) और आम राय। रिपोर्ट में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि पहला, फांसी की सज़ा किसी भी तरह के दंड संबंधी मकसद को पूरा नहीं करती : यह अपराध पर रोक लगाने के मकसद को उम्र कैद से की तुलना में अधिक प्रभावी रूप से पूरा नहीं करती, दूसरा, संविधान मकसद के रूप में 'बदला लेने के लिए प्रतिकार' की इजाज़त नहीं देता, प्रतिकार को उचित दंड मानने में उस सिद्धांत का अभाव है जिससे सज़ा का पैमाना तय किया जा सकता है, सज़ा में अनुपातिकता का सिद्धांत खुद अपराधी में पछतावे का भाव जगाने पर आधारित है और इसलिए इसमें फांसी की सज़ा की गुंजाइश नहीं है। इसके अलावा सार्वजनिक या आम राय फांसी की सज़ा जारी रखने के लिए पर्याप्त तर्क नहीं हो सकता, क्योंकि अगर आम राय के भरोसे पर ही चला जाता तो छूतपात, सती और बाल विवाह को गैरकानूनी घोषित करना संभव नहीं हो पाता।

रिपोर्ट के अनुसार फांसी की सज़ा हटा देने के कई कारण हैं : इस सज़ा से अपराधी को पुर्नवासित करने और सशक्त बनाने के न्याय का पहलू नज़रअंदाज़ या ओझल हो जाता है, इससे आपराधिक न्याय प्रणाली की अन्य बहुत सी कमियों पर से ध्यान हट जाता है जैसे कि कमज़ोर तहकीकात, अपराध की रोकथाम और अपराधों के पीड़ितों के अधिकारों के हनन आदि, इस के जारी रखे जाने से फांसी की सज़ा दिए जाने में होने वाली निरंकुशता बनी रहती है क्योंकि इस निरंकुशता को हटाने के कोई सैद्धांतिक तरीके मौजूद नहीं हैं, यह सज़ा संसाधनों की कमी, तहकीकात के पुराने तरीकों, काम के बोझ से दबे पुलिस महकमे, अप्रभावी अभियोजन और कानूनी सहायता के अभाव से भरी हुई आपराधिक न्याय प्रणाली में निहित गलतियों कोन उलट सकने वाला बना देती है, यह सज़ा सामाजिक और आर्थिक रूप से कमज़ोर तबकों के अपराधियों को अधिक अनुपात में मिलती है क्योंकि वे एक प्रतिकूल आपराधिक प्रणाली में अपने अधिकारों की रक्षा प्रभावी ढंग से नहीं कर पाते। इसके अलावा न्याय व्यवस्था में हो सकने वाली गलतियों के खिलाफ संरक्षण के रूप में दया याचिका के आधार पर जीवनदान देने की राष्ट्रपति की शक्ति अपने इस मकसद में बार बार असफल रही है।

एक तरफ जबकि ज़मींदारों की सेनाओं द्वारा किए गए अनेकों हत्याकांडों में व्यवस्थित रूप से कभी कोई सज़ा नहीं हुई है, बारा के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने फांसी की सज़ा का विकल्प चुना, वह भी तब जबकि फैसले में तीन में से एक न्यायाधीश ने इसे गलत ठहराया था। इस पक्षपात को सही ठहराने के लिए इन हत्याकाडों में से एक को 'आतंकवादी' करार दे दिया गया, जबकि बाकी को 'गैर आतंकवादी' की श्रेणी में रखा गया। एक फैसला जो बारा की घटना को उन लोगों की हत्या कहता है जिन्होंने बिहार पर शासन किया था, बड़ी आसानी से इसी तर्क का इस्तेमाल करके यह निष्कर्ष भी निकाल लेता है कि हत्यारे निश्चित रूप से आतंकवादी थे। ऐसा इसलिए क्योंकि अन्य हत्याकांडों में जो लोग मारे गए वे तो वैसे ही अक्सर अल्पपोषण, ठीक हो सकने वाली बीमारियों, गर्मी और ठंड से मर जाते हैं इसलिए उन्हें मारने वालों को आतंकवादी कहने की ज़रूरत नहीं है। इस तरह से बारा बिहार के सारे हत्याकांडों में से एक मात्र आपराधिक मामला है जिस में टाडा के तहत मुकदमा चला।

टाडा के इस्तेमाल से बारा की घटना पर 'आतंकवाद' का ठप्पा लग गया, जिसने तहकीकात और अभियोजन को अत्यधिक अन्यायपूर्ण बना दिया। अभियुक्तों को कभी जमानत नहीं मिली और वे गिरफ्तार किए जाने के बाद से लगातार जेल मे हैं। उनका मामला डैज़िगनेटिड कोर्ट में चला, एक कोर्ट जो इसलिए ही बना है कि वह मान कर चले कि इसमें लाए गए अभियुक्तों ने 'आतंक' का अपराध किया है। फिर पुलिस द्वारा किसी भी साम दंड से हासिल किए गए इकबालिया बयान को साक्ष्य माना गया। और अंत में अभियुक्तों को ट्रायल कोर्ट के फैसले के खिलाफ उच्च न्यायालय में अपील करने का मौका नहीं मिला क्योंकि मामला टाडा का था।

फांसी की सज़ा पाए चार अभियुक्तों में से तीन कृष्णा

मोची, नन्हे लाल मोची और वीर कुअर पासवान भूमिहीन दलित हैं और गिरफ्तारी से पहले हरवाहों की तरह से काम करते थे। और इस वजह से संभवतः इन लोगों को तहकीकात के समय यातनाएं दी गई होंगी और जमानत और कानूनी सलाह से वंचित किया गया होगा। टाडा और इसके अन्यायपूर्ण प्रावधान जिस तरह से कानूनी पूर्वाग्रहों को जन्म देते हैं व उससे जिस तरह से न्याय व जनतांत्रिक अधिकारों के पक्ष में साधारण कानूनी प्रक्रिया में शामिल सभी बाधाएं दूर होती जाती हैं उससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि नतीजा अन्याय की अंधकारपूर्ण खाई में फिसलने के अलावा कुछ और हो ही नहीं सकता था। वंचित, गरीब, पिछड़ी जाति और अल्पसंख्यक वर्ग के खिलाफ पूर्वाग्रहों के कारण इस कानून को बृहद सार्वजनिक विरोध का सामना करना पड़ा था जिसके चलते अंत में संसद को 1995 में इसे रद्द हो जाने देना पड़ा था। कानून के रद्द हो जाने के बाद इस पर से आम जनता का ध्यान हट गया, पर वे लोग जो इस दानव के चक्र में फंस गए थे, जैसे कि बारा के अभियुक्त, उनके लिए यह रद्द होने के बाद भी चलता रहा।

आगे बने टाडा जैसे कानून जैसे पोटा और इसका मौजूदा अवतार संशोधित यू.ए.पी.ए. अपने ढांचे और असर दोनों में ही इसके ही जैसे हैं। वे पलड़े को अभियुक्त के खिलाफ इस हद तक झुका देते हैं कि बहुत संभावना रहती है कि बेगुनाह को सज़ा हो जाए या फिर वह लंबे अर्से तक जेल में बंद रह कर छूट पाए। स्थापित कार्यविधियों और सुरक्षा उपायों जैसे जमानत के अधिकार का उल्लंघन करके, स्वीकार्य प्रमाणों के मापदंड को कमतर रख कर, अभियुक्त की सज़ा बढ़ाने और उन कार्यकलापों का दायरा बढ़ाने जिन्हें अपराध की श्रेणी में रखा जाता है यह हासिल किया जाता है। इन पूर्वाग्रहों की वजह से एक व्यक्ति खुद को बचाने में असमर्थ हो जाता है और इस तरह से एक व्यक्ति को संविधान और यूनिवर्सल डिक्लेरेशन ऑन हयूमन राइटस द्वारा मिले हुए अधिकारों का मज़ाक बन जाता है।

सभी आतंकी कानूनों में ऐसे प्रावधान शामिल होते हैं जिनमें मनमानी की छूट निहित होती है। उदाहरण के लिए बिहार के हत्याकांडों के संबंध में टाडा की धारा तीन में आतंकवादी गतिविधि की परिभाषा को देखें। इनमें से हर एक हत्याकांड इस परिभाषा के तीनों पहलुओं – 'आग्नेयास्त्रों या किन्हीं अन्य जानलेवा हथियारों की मदद से 'लोगों या लोगों के किसी भाग को आतंकित करना', और 'किसी व्यक्ति या व्यक्तियों को जान से मारना या घायल करना या किसी संपत्ति को क्षति पहुँचाना, बर्बाद करना' – के हिसाब से आंतवादी होने की परिभाषा को पूरा करता है। टाडा के लागू रहने की अवधि (1985–1995) के दौरान आज के दक्षिण पश्चिमी बिहार में कम से कम 23 हत्याकांड हुए जिनमें 256 से अधिक लोग मारे गए। परन्तु ज़मींदारों की सेनाओं द्वारा दलितों और गरीब मज़दूरों के किसी भी हत्याकांड को टाडा के इस्तेमाल के लायक नहीं पाया गया। यह भेदभाव इसलिए संभव हुआ क्योंकि अपराध इससे तय नहीं होता कि अभियुक्त ने क्या किया है पर इससे तय होता है कि अभियुक्त की वैसा करने के पीछे मंशा क्या रही होगी। बाद में आए आंतकवाद संबंधी कानूनों में बुनियादी आधार यही बना रहा। समय के साथ जो महत्वपूर्ण बदलाव आया वह यह था कि मंशा तय करने की शक्ति धीरे धीरे सुर्पिटेंडेंट ऑफ पुलिस से आई.जी. पुलिस से केन्द्रीय सरकार तक पहुँच गई।

मनमाने ढंग से संगठनों पर आतंकवादी होने का ठप्पा लगाने और उन्हें प्रतिबंधित करने का प्रावधान केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के लिए एक मनमाना सुविधाजनक हथियार बन गया। इसका नतीजा यह भी हुआ कि ज़मींदारों की सेनाओं और अन्य संगठनों, जो सत्ता और प्रभुत्व के मौजूदा ढांचे को बनाए रखना चाहते हैं, पर कभी भी आतंकवादी का ठप्पा नहीं लगेगा। आंतकवाद संबंधित कानूनों के लागू होने से पैदा हुई यह मनमानी असल में सामाजिक जीवन के लिए खतरा उत्पन्न करती है क्योंकि यह इस विश्वास का आधार बनती है कि संवैधानिक उपायों के माध्यम से अपील करना बेकार है और यह कि राजसत्ता और उसके पदाधिकारी विवाद में किसी एक पक्ष के साथ हैं संवैधानिक मानकों की रक्षा करने के लिए नहीं। इस तरह से आतंकवादी कानून और जिस तरह से अन्यायपूर्ण तरीके से वे प्रयोग किए जाते हैं, अपने कथित मकसद को पूरा करने के विपरीत उसी तरह की हिंसा को बढ़ावा देते हैं जिसे रोकने की उनसे अपेक्षा होती है।

बारा के मामलों की कार्रवाई को ध्यान से देखें। ध्यान देने की बात है कि बारा के सर्वोच्च न्यायालय के तीनों फैसलों में से एक में भी इस बारे में कोई विचार विमर्श नहीं किया गया कि टाडा लगाया जाना उचित था या नहीं। इसे ऊपर से आए फैसले की तरह स्वीकार लिया गया। पर तीनों फैसले इस बारे में काफी असहमति रखते हैं कि आतंकवाद का मतलब क्या है और इससे सज़ा पर फर्क पड़ा है।

अभियुक्तों में से चार को बहुमत फैसले (जस्टिस बी.एन. अग्रवाल और जस्टिस ए. पसायत) में फांसी की सज़ा दी गई क्योंकि उनके अनुसार चश्मदीद गवाहों के बयान भरोसे के लायक थे। अभियुक्तों में से चार को बरी कर दिया गया (जस्टिस बी.एन. अग्रवाल, जस्टिस एम.बी. शाह और जस्टिस ए. पसायत की पीठ द्वारा) क्योंकि पीठ का मानना था कि किसी अभियुक्त को दोषी ठहराने के लिए उनका इकबालिया बयान भरोसे के लायक नहीं था। एक तीसरी पीठ द्वारा (जस्टिस ए.के. पटनायक और जस्टिस एच.एल. गोखले) एक अभियुक्त को बरी कर दिया गया और दो अन्य की फांसी की सज़ा को उम्र कैद में बदल दिया गया, जिसने असाधारण देरी, दोषपूर्ण तहकीकात और अभियुक्तों की परिस्थितयों व गरीबी को महत्व दिया। सारांश यह है कि एक ही तहकीकात और अभियोजन के आधार पर तीन अलग अलग निष्कर्ष निकाले गए। और तीसरे फैसले में पहले फैसले पर इस तरह से भरोसा किया गया कि उसमें पहले के निष्कर्ष न दोहराए जाएं। फैसलों में एकमतता का अभाव 'आतंकवाद' के मुद्दे को और भी संदेहास्पद बना देता है। इस संदर्भ में तीसरे फैसले और बहुमत के फैसले में विरोधाभास बहुत ही स्पष्ट है।

जस्टिस अग्रवाल द्वारा दिए गए बहुमत फैसले में इस बात पर पूरी तरह से विश्वास किया गया है कि अभियुक्त एम.सी.सी. के सदस्य थे जो कि 'आतंकवादियों का एक संगठन है' और जिसने 'गाँव में एक खास समुदाय के लोगों की हत्याएं करने के लिए एक षडयंत्र रचा...'। यहाँ यह ध्यान में रखना ज़रूरी है कि कोई भी ऐसा स्पष्ट सबूत मौजूद नहीं था जिससे यह साबित हो सके कि अभियुक्त एम.सी.सी. के सदस्य थे, सिवाए इसके कि बहुत सारे दंगई गाँव में आए थे और उनमें से कुछ एम.सी.सी. के नाम के नारे लगा रहे थे। यह नोट करते हुए भी कि यह 'वंचित और संपन्न लोगों के बीच की जातिगत–लड़ाई थी' बहुमत फैसले में इस ओर ध्यान दिलाया गया है कि कैसे यह घटना 'एक ऐसे समुदाय के 35 लोगों की निर्मम हत्याओं की है, जो कि प्रदेश का सबसे सशक्त समुदाय था और जिसने दशकों तक बिहार पर शासन किया था'। फैसले में सवर्ण जाति के मारे गए लोगों के ऐतिहासिक प्रभुत्व का ज़िक्र यह सवाल खड़ा करता है कि क्या यह अपराध खासतौर पर अधिक बड़ा या बुरा था क्योंकि इसमें मारे गए 35 लोग भूमिहार थे और जिन्होंने उन्हें मारा वे वंचित लोग थे?

जस्टिस पटनायक और गोखले द्वारा 2012 में दिए गए तीसरे फैसले में पहले बहुमत फैसले का हवाला देते हुए भी वंचित और संपन्न वर्गों के बीच 'जातिगत–लड़ाई' के संबंध में एकदम अलग निष्कर्ष निकाला गया है। इसमें अभियुक्तों की गरीबी पर ध्यान दिया गया है और इस बात पर भी कि यह हमला 'बदले की कार्रवाई' था। और जबकि गवाहों ने कहीं भी नहीं कहा कि अभियुक्त एम.सी.सी. के सदस्य थे, तब भी फैसले में कहा गया कि, 'बहुत संभव है कि अपनी गरीबी और गाँव के जातिगत संघर्ष के कारण वे भी दंगे में शामिल हो गए और अपराध में भागीदार हो गए'। अन्य फैसलों और जस्टिस शाह के असहमति वाले फैसलों को ध्यान में रखते हुए तीसरी पीठ ने फांसी की सज़ा को उम्रकैद में बदल दिया। इस तरह से जातिगत–लड़ाई के सवाल पर और फांसी की सज़ा को सही ठहराने के लिए इसके इस्तेमाल में न्यायाधीशों की समझ में भी अंतर हैं। अभियुक्तों के एम.सी.सी. के साथ संबंध के विषय में भी फैसलों में अंतर हैं। बारा संबंधित इन विभिन्न फैसलों में एकमतता का अभाव किसी अपराध को आंतकवादी कार्रवाई का नाम दिए जाने पर एक बुनियादी प्रश्नचिन्ह लगाता है।

असल में यह संदर्भ बारा के चार अभियुक्तों को फांसी की सज़ा दिये जाने को और भी महत्वपूर्ण बना देता है।यह आतंकवाद के अपराधियों को फांसी की सज़ा दिए जाने पर रोक लगाने में विधि आयोग की हिचकिचाहट पर भी सवाल खड़े करता है। विधि आयोग की रिपोर्ट में आतंकवादी अपराधों के अलावा सभी अपराधों के लिए फांसी की सज़ा हटाने का सुझाव दिया है और ऐसा करते हुए कोई कारण नहीं दिया गया है कि फांसी की सज़ा किस तरह से इन अपराधों में कोई अतिरिक्त मकसद पूरा करती है। बारा का मामला इस हिचकिचाहट को समझने का एक उपयुक्त मामला है। पहलेकेस में टाडा लगाए जाने, इसके साथ आंतकवाद का ठप्पालगने और साथ ही सामाजिकढांचे से उत्पन्न होने वाले न्यायिक पक्षपात से स्थापित प्रक्रियाओं को नज़रअंदाज़ करने की छूट मिलती है और इस तरह से बेगुनाहों के फंसने और सज़ा पाने की संभावना बढ़ जाती है। दूसरा अपने सामाजिक और आर्थिक पिछड़ेपन से अभियुक्त इस हद तक प्रभावित होते हैं कि उन्हें किसी भी तरह की कानूनी मदद नहीं मिल पाती, यहाँ तक कि वे अपने वकील से मिल तक नहीं पाते। तीसरा आतंकवाद संबंधी कानूनों के इस्तेमाल का अर्थ यह होता है कि हत्याकांडों के अभियुक्तों के एक समूह को आतंकवादी करार दे दिया जाता है और फांसी की सज़ा दे दी जाती है और अन्य सभी को बरी कर

दिया जाता है। चौथा यह तय करने का अधिकार कि कौन सा अपराध आतंकवाद है और कौन सा नहीं पूरी तरह से केन्द्रीय सरकार के पास होता है जिसमें न्यायपालिका या संसद की कोई भूमिका नहीं होती। और अंततः जिन्हें फांसी की सज़ा दे दी जाती है उनके प्रति घोर उदासीनता, जिसका जिक्र विधि आयोग की रिपोर्ट में किया गया है, इस मामले में पूरी तरह से उजागर होती है : अभियुक्त ट्रायल कोर्ट के फैसले के बाद से 15 साल से एकान्त कारावास में हैं और उनके द्वारा भेजी गई दया याचिका आवाजाही में खो गई (और इसके खो जाने के बारे में 11 साल तक सरकार को कोई खबर नहीं थी)। जिस अपराध को आंतकवादी अपराध घोषित कर दिया जाता है वह अन्य अपराधों से केवल इन मायनों में अलग होता है कि उसे अंजाम देने वाले संगठन की राजनीतिक राय उस सरकार को स्वीकार्य नहीं होती जो उस समय केन्द्र में सत्ता में होती है। इस तरह से किन्हीं अपराधों को आतंकवादी कह कर उन में फांसी की सज़ा देना अगर ज़्यादा नहीं तो कम से कम उतना ही गलत है जितना किन्हीं भी और मामलों में।

vkokt kgh e [kk xbi & n;k ;kfpdk dh dgkuh

बारा हत्याकांड मामले में चार अभियुक्तों कृष्णा मोची, नन्हे लाल मोची, वीर कुअर पासवान और धमेंन्द्र सिंह को टाडा के तहत दोषी पाया गया था और गया के सत्र न्यायालय द्वारा 8 जून 2001 को फांसी की सज़ा दी गई थी। सर्वोच्च न्यायालय ने कृष्णा मोची एन्ड अदर्स बनाम बिहार राज्य (अपील (क्रिमिनल) 7610.2001) याचिका के फैसले में 15 अप्रैल 2002 को फांसी की सज़ा पर मुहर लगा दी, जबकि जस्टिस एम.बी. शाह ने फांसी की सज़ा के खिलाफ मत दिया था।

एक साल बाद चारों कैदियों ने राज्यपाल के पास अपनी दया याचिका भिजवाई। जब पी.यू.डी.आर. की टीम ने भागलपुर जेल का दौरा किया तब जेल के अधिकारियों ने उसे आधिकारिक पत्राचार के दस्तावेज दिखाए। इनके अनुसार दया याचिका जेल द्वारा सबसे पहले 31 मार्च 2003 को भेजी गई थी। जेल के अधिकारियों ने हमें बताया कि उनकी जानकारी के अनुसार याचिका बिहार सरकार से प्रेषित होकर राष्ट्रपति को भेजी गई थी, परन्तु 2014 तक बिहार सरकार द्वारा इस बारे में कोई सूचना नहीं दी गई थी कि वह कहाँ पहुँची। नेशनल लॉ यूनिवर्सिटी द्वारा बिहार सरकार के प्रिजन एंड रिफार्म डिपार्टमेंट को 16 जून 2015 को भेजी गई एक आर.टी.आई. के जवाब में बताया गया कि 10 अप्रैल 2004 को प्रिजन एंड रिफार्म डिपार्टमेंट ने याचिका राष्ट्रपति को भेज दी थी। परन्तु बिहार के राज्यपाल के सैक्रेट्रिएट द्वारा बिहार सरकार के कानून विभाग को 14 जून 2014 को भेजे गए खत में लिखा है कि जिस याचिका के 10 अप्रैल 2004 को भेजे जाने का दावा किया गया है वह राज्यपाल को मिली ही नहीं है।

अप्रैल 2014 को, यानी कि जेल से याचिका भेजे जाने के 11 साल बाद, बिहार सरकार के मुख्य सचिव (चीफ़ सैक्रटरी) ने भागलपुर जेल के जेलर को दया याचिका के बारे में पूछते हुए खत भेजा। यह खत, गृह मंत्रालय द्वारा 4 अप्रैल 2014 को भेजे गए खत के संदर्भ में था जिसमें मंत्रालय ने बिहार सरकार को लिखा था कि याचिका केन्द्र सरकार के पास नहीं पहुँची है और याचिका भेजे जाने में हुई इस असाधारण देरी का कारण बताने को कहा गया था। इसके बाद बिहार सरकार ने भागलपुर जेल को अगस्त 2014 को एक और खत इसी मामले में लिखा। इसके जवाब में जेल के अधिकारियों ने बिहार के मुख्य सचिव को 17 अक्टूबर 2014 को लिखा कि उन्होंने दया याचिका फिर से भेज दी है। जेल अधिकारियों का दावा है कि इसके बाद से राज्य सरकार से कोई सूचना उन्हें नहीं मिली है।

यहाँ यह ध्यान देना ज़रूरी है कि याचिका के फाइल होने और खो जाने के लगभग एक दशक बाद इसकी ढूंढ एशियन सैंटर फॉर हयूमन राइट्स (ए.सी.एच.आर.) द्वारा इस मामले में 2014 में दखल देने शुरू हुई। ए.सी.एच.आर. ने 2013 में भारत के राष्ट्रपति के सम्मुख 1981 से लंबित दया याचिकाओं की सूची के लिए गृह मंत्रालय के पास आर.टी.आई. लगाई थी। ए.सी.एच.आर. को मंत्रालय से जो सूची मिली उसमें बारा मामले के फांसी के सज़ायाफ्ता कैदियों के नाम नहीं थे। इसके बाद ए.सी.एच.आर. ने राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के पास इस 'खोई' हुई याचिका के संबंध में हस्तक्षेप करने के लिए एक शिकायत भेजी। इस घटनाक्रम के बाद केन्द्र और राज्य सरकारें चिंतित हो गईं और इस न खोजी जा सकने वाली याचिका को खोजने के लिए इधर उधर चिट्ठियाँ भेजी जाने लगीं।

बिहार सरकार ने याचिका आगे भेजी या वह कभी इसे भेज ही नहीं सकी या सरकार के विभिन्न विभागों के बीच घूमते घूमते यह कहीं गुम हो गई, हमें नहीं पता। पर आज असली सवाल यह है कि इसका दोषी कौन है? क्या सरकारी अधिकारियों की यह लापरवाही फांसी की सज़ा पाए हुए कैदियों के जीवन के मौलिक अधिकार का उल्लंघन नहीं है? जीवन के अधिकार के लिए अपील करने वाले याचककर्ता जेल के अंधेरों में सड़ रहे हैं जबकि उन्हें अधिकारियों की इस जानलेवा लापरवाही के बारे में कोई खबर ही नहीं है। उन्हें पता है कि दया याचिका भेजी गई थी और उस पर कुछ नहीं हुआ है और उन्हें नहीं पता कि 13 सालों की जेल की उनकी जद्दोजहद के दौरान उनकी याचिका उस व्यक्ति तक नहीं पहुँची जहाँ इसे पहुँचना था।

यह दया याचिका अब राष्ट्रपति के पास लंबित है और 8 अगस्त 2016 को गृह मंत्रालय ने इसके संबंध में अपनी सिफारिशें राष्ट्रपति को भेजी हैं।

5- fu"d"k

इन पाँच हत्याकांडों के मामलों के न्यायिक परिणामों का दस्तावेजीकरण मध्य बिहार में उन्नीस सौ अस्सी और नब्बे के दशकों के कृषि संबंधि विवादों के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। उस संदर्भ में जबकि तथा कथित निचली जातियों के भूमिहीन और लगभग भूमिहीन ग्रामीण एम.एल. संगठनों की मदद से एक इज्ज़तपूर्ण ज़िंदगी जी पाने के अपने अधिकार के लिए संघर्ष कर रहे थे और सवर्ण जातियों के ज़मींदार अपनी निजी सेनाओं की मदद से इन पर हमले करके इनके संघर्ष को कुचलने में लगे थे।

एक ओर भूमिहारों की खूंखार रणवीर सेना द्वारा नीची जातियों के भूमिहीन ग्रामीणों की हत्याओं के चार मामलों लक्ष्मणपुर बाथे, बथानी टोला, नागरी और मिंयापुर में एक को छोड़ कर सभी अभियुक्तों को 2012 और 2013 के बीच सबूतों के अभाव के आधार पर पटना उच्च न्यायालय द्वारा बरी कर दिया गयाए वहीं दूसरी ओर बारा में एम.सी.सी. द्वारा 35 भूमिहारों की हत्याओं के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने 4 अभियुक्तों की फांसी की सज़ा को (2002 में) और दो अन्य की उम्र कैद की सज़ा को (2013 में) कायम रखा। उच्च न्यायालय ने उन चार मामलों में दोबारा तहकीकात या अभियोजन का कोई आदेश नहीं दिया और इस तरह से 122 लोगों की हत्याओं के लिए ज़िम्मेदार लोग साफ बच गए और हमलों में मृत व घायल लोग, उनके परिवारजन व जो जीवित बचे, वे सभी न्याय से वंचित हो गए। वहीं दूसरी ओर सर्वोच्च न्यायालय ने बारा मामले में फांसी की सज़ा तक को बरकार रखते समय भी सबूतों व बयानों की कमियों, गलत और मनमाने तरीके से टाडा लगाए जाने को नज़रअंदाज़ किया। सर्वोच्च न्यायालय ने यह पूरी तरह से साफ कर दिया कि अपराध ज़्यादा गंभीर होता है जब वह एक प्रभावी जाति के लोगों की हत्याओं से संबंधित हो। जब अक्टूबर 2013 में उच्च न्यायालय द्वारा हत्याकांडों के मामलों में अभियुक्तों को बरी किए जाने का एक श्रंखला में चौथा फैसला (लक्ष्मणपुर बाथे के मामले में) सुनाया गया तो संचार माध्यमों और सामाजिक राजनीतिक हलकों में काफी हल्ला मचा, परन्तु जल्दी ही इन चारों हत्याकांडों में मारे गए और बच गए लोग और उनकी न्याय की उम्मीदों को भुला दिया गया।

जब इन चार मामलों की तहकीकात और अभियोजन को बारा के साथ परखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि आपराधिक न्याय प्रणाली असमर्थ लोगों के खिलाफ और ताकतवर लोगों के पक्ष में पूरी तरह से झुकी हुई है और सज़ा भी समाज में व्याप्त गैरबराबरी के हिसाब से निर्धारित होती है। पुलिस और न्यायपालिका अपना काम करते हुए जाति व्यवस्था के उसी ढांचे और पक्षपात को दोहराते हैं जो उस समाज में स्थापित है जिससे वे खुद भी आते हैं। भारत में न्याय के लिए संघर्ष कर रहे लोगों की चाप बहुत बृहद है, पर यह चाप इतने नियमित रूप से अन्याय की तरफ मुड़ जाती है कि अन्याय ही यहाँ नियम बन गया है।

इन पाँच मामलों में तहकीकात और अभियोजन को ध्यान से देखने पर सामाजिक सरंचना और उससे जुड़े न्यायिक पक्षपात का आपसी खेल पूरी तरह से उजागर हो जाता है जिसके चलते एक जैसे अपराधों में परिणाम इसलिए अलग निकलते हैं क्योंकि उनमें अभियुक्त और पीड़ित अलग अलग हैं। यह और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है क्योंकि बिहार में हत्याकांडों के एक के बाद एक मामलों में यही स्वरूप उभर कर आता है। 2009 में जहानाबाद के सत्र न्यायालय ने रणबीर सेना के 10 अभियुक्तों को बरी कर दिया जिन पर 1999 में नारायणपुर में 11 दलितों की हत्याओं का आरोप था। 14 जनवरी 2014 को जहानाबाद की निचली अदालत ने शंकरबीघा में 1999 में हुए हत्याकांड के रणबीर सेना के सभी 24 अभियुक्तों को 'सबूतों के अभाव में' बरी कर दिया। इस मामले में सभी 50 गवाह प्रतिकूल हो गए थे क्योंकि अभियुक्त जमानत पर छूट गए थे और वे उन्हें धमकियाँ देकर डराते थे तथा पुलिस और कोर्ट से इन गवाहों को सुरक्षा दिलाने के लिए की गई अपीलों का कोई परिणाम नहीं निकला था। दूसरी ओर अरवल में तीन लोगों, जिनमें एक पुलिस वाला भी शामिल था, की हत्याओं का 1986 का मामला 2004 तक सर्वोच्च न्यायालय तक पहुँच गया और इसमें टाडा डेज़िगनेटिड कोर्ट द्वारा सी.पी.आई. (एम.एल.) के 14 अभियुक्तों को दी गई सज़ा को बरकरार रखा गया। ध्यान रहे कि इस मामले में भी टाडा का इस्तेमाल किया गया। इसी तरह से दलेलचक भगौड़ा हत्याकांड का मामला जिसमें एम. सी.सी. द्वारा 1987 में 42 राजपूतों की हत्या की गई थी 1996 में सर्वोच्च न्यायालय पहुँचा। हालांकि इसमें 8 अभियुक्तों की फांसी की सज़ा को उम्र कैद में इस आधार पर तब्दील कर दिया गया कि एक अकेले गवाह और वह भी 9 साल के बच्चे

के बयान के आधार पर अभियुक्तों को फांसी पर लटकाना 'ठीक नहीं' है, पर यह आधार उन्हें उम्र कैद देने के लिए काफी माना गया।

सवाल यह पैदा होता है कि रणवीर सेना द्वारा किए गए हत्याकांडों में सबूत हमेशा ही अनिर्णायक क्यों रहते हैं और सवर्णों की हत्याओं के मामले एक तार्किक परिणति तक कैसे पहुँच जाते हैं? यह महज संजोग नहीं है बल्कि यह एक योजना के तहत होता है। चयनात्मक तरीके से टाडा और इसके जैसे कानूनों का इस्तेमाल, संगठनों का प्रतिबंधित किया जाना और फांसी की सज़ा दिया जाना सभी इस योजना में शामिल हैं जो कि यथास्थिति बनाए रखने के लिए ज़रूरी है। एक योजना जो कि वंचित तबके को यह चेतावनी देती है कि वह अन्याय के खिलाफ आवाज़ न उठाए और प्रभावी वर्ग को यह संदेश कि वे शोषण के अपने तरीके जारी रख सकते हैं।

विधि आयोग का आतंकवाद के अपराधों में फांसी की सज़ा जारी रखने का सुझाव, इस सज़ा को खतम रखने के पक्ष में इसके अपने ऐच्छिकता या मनमानेपन के तर्क के खिलाफ जाता है। राजसत्ता की मशीनरी पूरे पक्षपातपूर्ण और मनमाने ढंग से यह तय करती है कि कौन से संगठन को 'आतंकवादी' करार दिया जाए या कौन से अपराध पर 'आंतकवाद' ठप्पा लगाया जाए। इस तरह से ऐसे मामलों में आतंकवाद संबंधी कानूनों का इस्तेमाल भी पूरी तरह से पक्षपातपूर्ण और मनमाना हो जाता है। जैसा कि बारा मामले में देखा गया कि एक बार यह ठप्पा लग जाने पर न्यायपालिका भी ऐसे मामलों को अलग तरह से देखती है और इसके परिणाम फांसी की सज़ा जितने गंभीर भी हो सकते हैं। इसलिए 'आतंकवादी' अपराधों के लिए फांसी की सज़ा को जारी रखना गलत है।

ftnxh dk Hkkj % ^^mudh ckdh dh LokHkkfod ftnxh rd**

2013 में, सर्वोच्च न्यायालय के जस्टिस पटनायक और गोखले की दो जजों की पीठ ने बारा मामले में नरेश पासवान को बरी कर दिया और व्यास कहार और बुगुल मोची की फांसी की सज़ा को उम्र कैद में बदल दिया। इन तीनों को टाडा के डैसिगनेटिड कोर्ट ने 2009 में आई.पी.सी. की विभिन्न धाराओं के तहत इस हत्याकांड में तथाकथित भूमिका के लिए फांसी की सज़ा सुनाई थी। सर्वोच्च न्यायालय ने पासवान को तीन आधारों पर बरी किया : एफ.आई.आर. में उनका नाम नहीं था, उन्हें कोर्ट में पहचाना नहीं गया था और किसी भी गवाह ने उन पर हत्याकांड में किसी विशिष्ट भूमिका का आरोप नहीं लगाया था। कोर्ट ने व्यास कहार और बुगुल मोची के दोषी करार दिए जाने को सही ठहराया और उनकी फांसी की सज़ा को इन शब्दों के साथ उम्र कैद में बदला ''उम्र कैद, जिसका अर्थ है कि उनकी बाकी की स्वाभाविक ज़िंदगी भर के लिए'' (व्यास राम @ व्यास कहार और अन्य बनाम बिहार सरकार, 2013)।

मामले के न्यायिक संदर्भ के बावजूद इस बात पर ध्यान दिया जाना ज़रूरी है कि केहर और मोची को उम्र कैद दिया जाना पूरी तरह से अनुचित है। किसी भी स्पष्टीकरण के अभाव में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आतंकवादी अपराध के ठप्पे के अलावा, आज की तारीख में उम्रकैद पर चल रहे विमर्श के चलते न्यायाधीशों को ''बाकी की स्वाभाविक ज़िंदगी'' की चेतावनी साथ में जोड़ना ज़रूरी लगा।

इस सज़ा के साथ कई एक दिक्कतें हैं। पहला, बारा हत्याकांड के संदर्भ में, जबकि इकट्ठा किए गए सबूत और तहकीकात कमियों से भरी हुई और अविश्वसनीय थी, फिर भी, इसे फांसी और उम्र कैद की सज़ा को बरकार रखने के लिए काफी माना गया। ऐसा तब हुआ जबकि ठीक उसी तरह के हत्याकांडों जैसे लक्ष्मणपुर बाथे, बथानी टोला, मियांपुर और नागरी के मामलों में उच्च न्यायायल ने लगभग सभी अभियुक्तों को, जो कि सवर्ण थे, सबूतों की गुणवत्ता की कमी के आधार पर बरी कर दिया।

दूसरा, इस तरह की सज़ा में हमेशा सुधारात्मक मंशा का अभाव दिखाई देता है। किसी व्यक्ति को उसकी बाकी की स्वाभाविक ज़िंदगी के लिए जेल में रखने की सज़ा देकर न्यायालय उसके छोड़े जाने और समाज में पुनः स्थापित होने की संभावना को खतम कर देता है। बल्कि इस तरह की सज़ा में व्यक्ति को अवांछित माना जाता है जिसकी समाज में कोई जगह नहीं है। छोटे में कहें तो इस तरह की सज़ा, अभियुक्तों को सुधरने और पुनः स्थापित करने की हमारे जेलों और आपराधिक न्यायिक व्यवस्था की असमर्थता की ओर इशारा करती है।

तीसरा, दुनिया भर में जजों और वकीलों ने सज़ा होने के पक्का होने को सज़ा की कठोरता से अधिक महत्वपूर्ण माना है, आपराधिक मुकदमों में अविचलता और पूर्वकथनियता नियम होना चाहिए सज़ा की कठोरता नहीं। यानी कि अगर ऐसी स्थिति हो कि अधिकांश आपराधिक मामलों में सज़ा होती है और ऐसा पहले से ही कहा जा सकता है कि आपराधिक मामले में सज़ा होगी ही तो यह अधिक असरकारी होगा न कि कुछ मामलों में कठोर सज़ा दिया जाना। कठोर सज़ा देना, बदले की कार्रवाई जैसा होता है क्योंकि इसमें व्यक्ति के ऊपर से राज्य और समाज का विश्वास उठ जाना अंतर्निहित होता है। अगर किसी कैदी को पूरी उम्र जेल में ही गुज़ारनी हो तो ऐसे में उसकी आपराधिक प्रवृति को बढ़ावा मिलता है क्योंकि जेल के अंदर बंद कैदी के पास 'सुधरने की प्रक्रिया' में घुसने के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं होता।

भारत में जेलों की दयनीय हालत को देखते हुए यह कल्पना करना कोई मुश्किल काम नहीं है कि वहाँ कैदियों के साथ कैसा सलूक होता है। अपनी क्षमता से कहीं ज़्यादा भरे हुए जेल अपराध, यातना और अमानवीय व्यवहार के अड्डे हैं। इसलिए यह कोई हैरानी की बात नहीं है कि जेल की व्यवस्था व्यक्ति को पुनर्वासित करने और मजबूत बनाने के अपने उद्देश्य में पूरी तरह से असफल रही है। और यह पहलू राज्य और न्यायालयों से छिपा नहीं है क्योंकि वे इसी सड़ी गली व्यवस्था से पूरी तरह से वाकिफ हैं और इसके ज़िम्मेदार भी हैं। ऐसे में कभी भी रिहा होने की संभावना से वंचित करके किसी को उम्र कैद की सज़ा देना व्यवस्था की पाखंडता की ओर इशारा करता है जो अपने मुज़रिमों को वापस अपनाने के लिए तैयार नहीं है।

उम्र कैद न्यायशास्त्र में एक विवादास्पद क्षेत्र है और हाल के सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों में एक अपरिहार्य विडंबना दिखाई देती है – अगर फांसी की सज़ा पाए लोगों की सज़ा को उम्र कैद में बदलना फांसी की सज़ा को खतम करने की दिशा में पहला कदम है तो 'उनकी बाकी की स्वाभाविक ज़िंदगी' जैसे वाकयांश इस दावे को झुठला देते हैं। अगर माफी से वंचित करने और कारावास को किसी सज़ायाफ्ता व्यक्ति की कैद को ज़िंदगी के अंत तक कर देने का अधिकार कोर्ट के पास रहता है तो सवाल यह उठता है कि व्यक्ति को किस तरह की ज़िंदगी दिए जाने की बात हो रही है?

ih-;w-Mh-vkj- ekx djrk gS fd

1) बारा मामले में फांसी की सज़ा पाए चारों अभियुक्त करीब दो दशकों से जेल में हैं। इस सारे समय में उन्हें एक दिन के लिए भी बाहर नहीं निकाला गया है। जेल अधिकारियों को उनके व्यवहार से कोई शिकायत नहीं है। फांसी की सज़ा पाने के कारण उन्होंने सज़ा घोषित होने के बाद से और खासकर 2002 में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा फांसी की सज़ा के बरकरार रखे जाने के बाद से हर दिन मौत के डर में काटा है। उस दिन से वे लगातार एकान्त कारावास में रखे गए हैं। हमारे दल को दिए गए उनके बयानों से साफ ज़ाहिर है कि वे बार बार मौत की सज़ा की तकलीफ भुगत चुके हैं। और हमारी आपराधिक न्यायप्रणाली फांसी की सज़ा देने के प्रति इतनी संवेदनशील है कि जबकि उनकी दया याचिका आवाजाही में खो गई तो उन्हें पूरी तरह से भुला दिया गया। कम से कम इतना होने के बाद तो समाज और राजसत्ता को इस लगातार जारी अत्याचार को खतम कर देना चाहिए। इन चारों दंडित व्यक्तियों को छोड़ दिया जाना चाहिए ताकि वे अपनी ज़िंदगियों के आखरी दिन आज़ाद रह कर बिता सकें। इसलिए हम मांग करते हैं कि मानवीयता और न्याय की अपनी प्रतिबद्धता की खातिर सरकार नन्हे लाल मोची, कृष्णा मोची, वीर कुअर पासवान और धर्मेन्द्र सिंह को माफी देकर तुरंत रिहा करे।

2) जहाँ एक ओर फांसी की सज़ा पाए अभियुक्तों के लिए यह असामान्य देरी अधिकतम यातना का सबब बनी है, यही देरी हत्याकांडों के अन्य मामलों में सज़ा दिए जाने के अभाव का कारण बनी है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपीलों की सुनवाई में और देरी उन्हें ठुकराने के बराबर है। हम मांग करते हैं कि इन मामलों की सुनवाई को तेज़ी से पूरा किया जाए।

3) विधि आयोग द्वारा 'आंतकवाद' के मामलों में फांसी की सज़ा को बरकार रखने के सुझाव से यह सज़ा दिए जाने से संबंधित पक्षपात, मनमानापन और अन्याय जारी रहेगा। हम मांग करते हैं कि फांसी की सज़ा को पूरी तरह से हटा दिया जाए।

idk'kd% पीपल्स यूनियन फार डैमोकेटिक राइट्स, दिल्ली
ifr;ksa d fy,% डा. मौशुमी बासु, ए–6/1, अदिति अपार्टमेन्टस्, डी ब्लाक, जनकपुरी, नई दिल्ली 110058
end% प्रोग्रेसिव प्रिन्टर्स, ए–21, झिलमिल औद्योगिक क्षेत्र, जी.टी. रोड, शाहदरा, दिल्ली 110095
oSclkbV% www.pudr.org bZ&esy% pudr@pudr.org
lg;ksx jkf'k% 15 #-